मरुक्षेत्र

अनुसंधान के आयाम

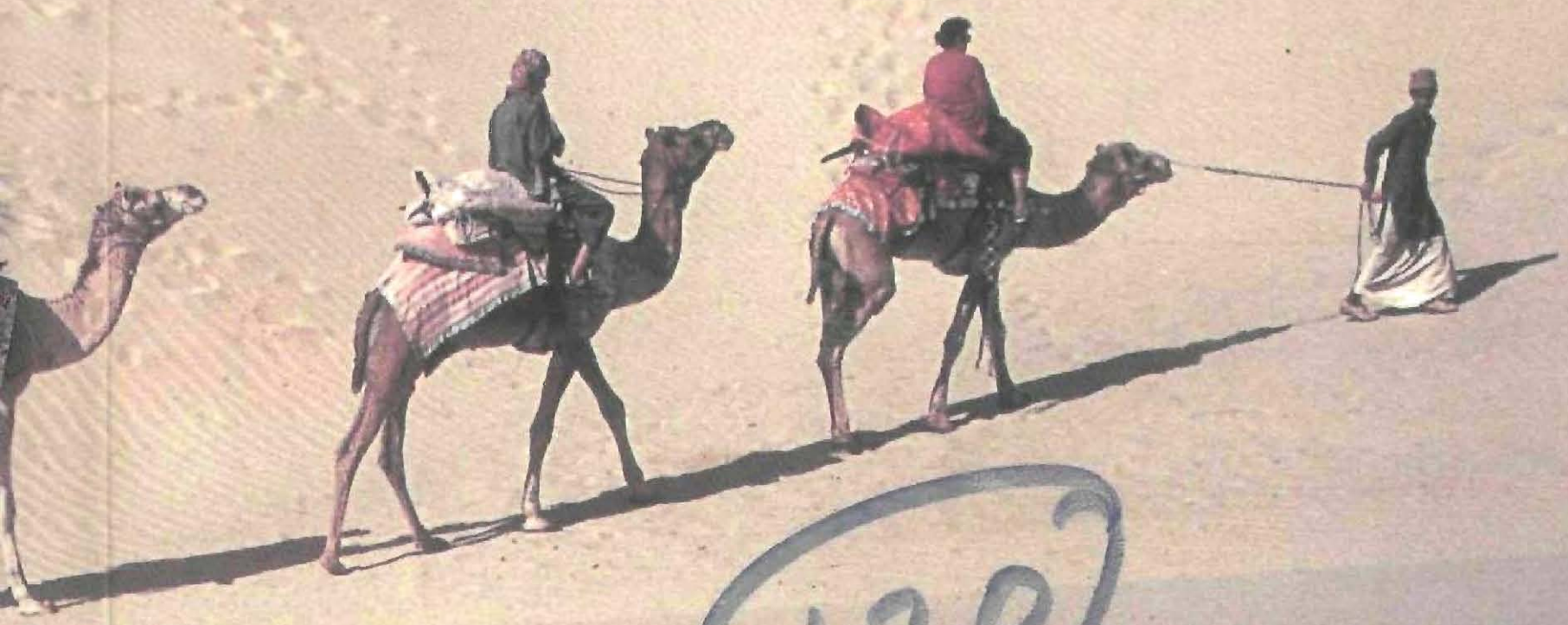

130

संपादक

अमर सिंह फरोदा

महेन्द्र प्रताप सिंह

मरुक्षेत्र

अनुसंधान के आयाम

संपादक

अमर सिंह फरोदा
महेन्द्र प्रताप सिंह

केन्द्रीय रुक्ष क्षेत्र अनुसंधान संस्थान
जोधपुर 342003

प्रकाशक :
केन्द्रीय रुक्ष क्षेत्र अनुसंधान संस्थान
(भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्)
जोधपुर - 342 003

अगस्त 1998

कम्प्यूटर सहायता :
रमेश चन्द्र जोशी

मुद्रक :
एवरग्रीन प्रिन्टर्स
सी-6, शास्त्री नगर, जोधपुर

आलेख योगदान

डॉ. हरीश प्रताप सिंह
डॉ. महेन्द्र प्रताप सिंह
श्रीमती मधुबाला चारण
डॉ. बालक राम
डॉ. दिनेश चंद्र जोशी
डॉ. धरमवीर सिंह
डॉ. देवेंद्र कुमार
डॉ. संतोष कुमार शर्मा
डॉ. महावीर सिंह यादव
डॉ. लक्ष्मी नारायण हर्ष
डॉ. जीवन चंद्र तिवारी
डॉ. वृज भूषण वशिष्ठ
डॉ. राजनाथ प्रसाद
डॉ. रिखव राज भंसाली
डॉ. तेजेन्द्र कुमार भाटी
डॉ. कपिल देव शर्मा
डॉ. रमेश कुमार अग्रवाल
डॉ. सुरेश कुमार
डॉ. हामिद अली खान
डॉ. मोहम्मद शर्फुदीन खान
डॉ. हरीश चंद्र बोहरा
डॉ. हरपाल सिंह
डॉ. पीयूष चंद्र पाण्डेय
डॉ. कुंवर नरेन्द्र कुमार चौहान

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	आलेख	पृष्ठ संख्या
	प्राक्कथन	
1	परिदृश्य	1
2	काजरी : एक परिचय	5
3	प्राकृतिक संसाधन	9
4	मरुस्थलीकरण	17
5	फसल उत्पादन	20
6	चारा उत्पादन एवं चारागाह प्रबन्धन	38
7	वनीकरण एवं वन अनुसंधान	45
8	शुष्क उद्यानिकी	50
9	अधिक आय के लिए वैकल्पिक कृषि पद्धतियां	61
10	जल संसाधनों का विकास	65
11	परती भूमि एवं समस्याजनक जल का प्रबन्ध	70
12	खनन प्रभावित भूमि का पुनरूत्थान	73
13	कपड़ा औद्योगिक इकाइयों के प्रदूषित जल का प्रबन्ध	76
14	भारतीय मरुस्थल में जैव विविधता	78
15	आर्थिक महत्व के पौधे	81
16	मरुस्थल का पशुधन, समस्याएं व निराकरण	84
17	गैर परम्परागत ऊर्जा स्रोतों का दोहन एवं कृषि यन्त्रों का विकास	92
18	तकनीकी हस्तान्तरण	99
19	अग्रावलोकन	102

आमुख

भारत के पश्चिमोत्तर में स्थित रुक्ष तथा अर्द्ध-रुक्ष क्षेत्र का प्राकृतिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्व है । थार के नाम से प्रसिद्ध रेगिस्तानी इलाके की गिनती विश्व के सबसे ज्यादा जनसंख्या वाले मरुस्थल के रूप में की जाती है । यहां तथा आस - पास के कम वर्षा वाले क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधन अपेक्षाकृत सीमित रहे हैं । कृषि की दृष्टि से ये क्षेत्र लगभग अनुपयुक्त माने गये, किन्तु यहां पशु सम्पदा आधारित जीवन पद्धति का सहज विकास हुआ । कालान्तर में बढ़ती जन तथा पशु संख्या के कारण सीमित संसाधनों का तीव्र गति से दोहन किया जाने लगा, जिससे कई समस्याएं उत्पन्न हुईं । यही कारण है कि थार को मानव जनित मरुस्थल माना गया है । वैसे संसार के विभिन्न भागों में मरुस्थलीकरण प्रक्रिया न्यूनाधिक स्तर पर चल रही है, इस कारण विश्व के सभी देश चिंतित हैं तथा इसे रोकने के प्रयास कई स्तरों पर किये जा रहे हैं ।

भारतीय मरुस्थल विश्व का सर्वाधिक अध्ययनित मरुक्षेत्र माना जाता है । इसमें केन्द्रीय मरु क्षेत्र अनुसंधान संस्थान *(काजरी)*, जोधपुर की प्रमुख भूमिका रही है । संस्थान द्वारा किये गये वैज्ञानिक अध्ययनों से मरुस्थलीकरण के कारक तत्वों सहित अन्य जानकारी का सृजन संभव हुआ है । रुक्ष एवं अर्द्ध-रुक्ष क्षेत्रों के लिए उपयुक्त कई तकनीकियों का विकास संस्थान द्वारा किया जा चुका है, जिन्हें अपना कर अधिक लाभ अर्जित किया जा सकता है । ये तकनीकें व्यक्तिगत तथा सामुदायिक सभी स्तरों पर अपनायी जा सकती हैं । यद्यपि वैज्ञानिक क्षेत्रों में *काजरी* का कार्य राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जाना जाता है, तथापि अधिकांश कृषक समुदाय द्वारा यहां विकसित तकनीकों का सदुपयोग किया जाना अभी शेष है ।

केन्द्रीय मरु क्षेत्र अनुसंधान संस्थान में कार्यरत विभिन्न विषयों के ज्ञाता वैज्ञानिक समुदाय द्वारा एकत्रित ज्ञान को सामान्य जन की जानकारी हेतु उपलब्ध करवाने की दृष्टि से इस संकलन की रचना की गयी है । प्रस्तुत सामग्री संस्थान की गतिविधियों का विवरण प्रदान करने के अतिरिक्त कुछ तकनीकों की संक्षिप्त जानकारी भी देगी । अधिक जानकारी हेतु जिज्ञासुओं का संस्थान में सदैव स्वागत है । आशा है स्वतन्त्रता के स्वर्ण जयंती वर्ष के अवसर पर प्रकाशित इस प्रस्तुति से कृषक समुदाय तथा अन्य जन लाभान्वित होंगे ।

अमर सिंह फरोदा
महेन्द्र प्रताप सिंह

परिदृश्य

भारत के कुल भौगोलिक क्षेत्र का आठवां भाग (लगभग 12 प्रतिशत) रुक्ष क्षेत्र है, जिसका नव्वे प्रतिशत देश के चार पश्चिमोत्तर राज्यों राजस्थान (61 प्रतिशत), गुजरात (20 प्रतिशत) तथा पंजाव व हरियाणा (9 प्रतिशत) में स्थित है । शेष दस प्रतिशत दक्षिणी राज्यों, आंध्रप्रदेश तथा कर्नाटक में है । इस मरु क्षेत्र का लगभग 320 लाख हैक्टेयर क्षेत्र उष्ण मरुस्थल है, जिसे थार अथवा विशाल भारतीय मरुस्थल के नाम से जाना जाता है । इसके अतिरिक्त लद्धाख (जम्मू कश्मीर) का लगभग 70,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र शीत मरुस्थल है ।

सीमित प्राकृतिक संसाधनों युक्त उष्ण प्रदेश की गणना विश्व के सर्वाधिक जनसंख्या बहुल मरुस्थल के रूप में की जाती है । शताब्दियों से यहां बसे निवासियों ने प्रकृति से सामंजस्य युक्त ऐसी जीवन पद्धति विकसित की थी, जिसमें उपलब्ध सीमित संसाधनों के आधार पर जीवन यापन सहज था । किन्तु वर्तमान में मानव तथा पशुओं की संख्या में हो रही लगातार वृद्धि के कारण यह क्षेत्र अतिदोहन जनित समस्याओं से ग्रसित है । अर्द्ध-मरु क्षेत्रों में भूमि की उत्पादकता में निरंतर कमी चिन्ता का अतिरिक्त कारण वन गयी है । आधुनिक विकास कार्यों के चलते चारागाह, वन व कृषि क्षेत्र का संकुचन होने से जैव विविधता का ह्रास एवं पर्यावरण असंतुलन जैसी गंभीर समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं । प्राकृतिक संसाधनों के अवैज्ञानिक तथा अंधाधुंध दोहन को मरुस्थलीकरण का जनक माना जा सकता है ।

अध्ययन की दृष्टि से मरु क्षेत्रों की समस्याओं को तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

- भौतिक तथा पर्यावरणीय : अपर्याप्त एवं अनियमित वर्षा (100 - 420 मि.मी.प्रति वर्ष), प्रायः घटित अनावृष्टि जनित अकाल, प्रचण्ड सौर ऊष्मा, उच्च ग्रीष्म तापमान (45° - 50° सै.), शीत ऋतु में पाला पड़ना, तीव्र वायु वेग (30- 40 कि.मी.प्र.घंटा), उच्च वाष्पीकरण दर (1500-2000 मि.मी.प्र.वर्ष), अनुपजाऊ भूमि, अनुपयुक्त भूमिगत पेय जल, सिंचाई के लिए जल का अभाव अथवा अनुपयुक्तता
- जैविक : सीमित पादप उत्पादकता, वन्य जीव तथा नाशीकीटों का प्रकोप, वढ़ती मानव तथा पशु संख्या, सिमटती जैव विविधता
- आर्थिक-सामाजिक : आर्थिक संसाधनों का अभाव, अशिक्षा, घुमक्कड़ जीवन, आधुनिक कृषि तथा पशुपालन तकनीकों के समुचित निकास एवं प्रसार का अभाव

पश्चिमोत्तर प्रदेशों में खाद्य उत्पादन का मेरुदण्ड वारानी खेती है । अधिकतर क्षेत्रों में वर्षा आधारित खेती ही की जाती है तथा वर्ष की मुख्य फसल खरीफ ही होती है, यद्यपि कुछ स्थानों पर संचित नमी द्वारा रवी फसल लेने के दृष्टांत भी विद्यमान हैं । ऐसे क्षेत्रों में विस्तृत स्तर पर बुवाई के उपरांत भी प्रति हैक्टेयर उत्पादन सामान्य मापदण्डों से कम ही हो पाता है, जिसके मूल में वांछित मात्रा में खाद या उर्वरक तथा कीटनाशक आदि दवाओं का समुचित प्रयोग न होना तथा

अधिक उपज वाली किस्मों की उपलब्धता का अभाव हो सकता है । वर्षा आधारित क्षेत्रों में उन्नत किस्मों की पूर्ण क्षमता के अनुरूप उत्पादन अभी तक नहीं हो पाया है ।

शुष्क क्षेत्रों में जल तथा भूमि में लवणीयता अथवा खार पाया जाना सामान्य है । बहुधा भूमिगत जल सिंचाई के अधिक उपयुक्त नहीं है, तथापि ऐसे जल से लवणीयता अवरोधी फसलें व्यापक क्षेत्रों में उत्पादित की जाती हैं । भूमि की लवणीयता अधिकतर ऐसे जल द्वारा सिंचाई के कारण ही उत्पन्न हुई है, यद्यपि कतिपय क्षेत्रों में यह प्राकृतिक रूप में विद्यमान है । इस प्रकार से सिंचित फसलों का उत्पादन प्रति इकाई अधिक नहीं होने के उपरांत भी इनका प्रदेश की कुल उत्पादकता में महती योगदान है । लवणीयता रोधी उपचार अत्यल्प परिमाण में अपनाये जा सके हैं । भूमि की न्यूनोत्पादकता शक्ति के अतिरिक्त जल तथा वायु द्वारा कटाव भी प्रमुख समस्याएं हैं ।

विभिन्न स्थानों पर सीमित मात्रा में कृषि उपयोगी भूमिगत जल की उपलब्धता है, जहां उत्पादन उर्वर क्षेत्रों के समतुल्य होता है । जल के ऐसे स्रोतों की जानकारी पिछले एक दो दशक में हुई है, जिसके कारण बेकार पड़ी भूमि पर खेती की जाने लगी है । इसके अतिरिक्त कुछ पारंपरिक जल स्रोतों यथा तालाब, खडीन तथा नाडी या टांकों द्वारा वर्षा जल का संचय कर उसे कृषि हेतु उपयोग में लिया जाता रहा है । किन्तु विकास के साथ ही इन स्रोतों के जलग्रहण क्षेत्रफल में तीव्र कमी आयी है, जिससे पूर्व की अपेक्षा अति न्यून मात्रा में ही जल संचय हो पाता है । विभिन्न नदियों पर बांध बनने से जहां सीमित क्षेत्र में सिंचाई साधन उपलब्ध करवाने में सफलता प्राप्त हुई है, वहीं पूर्व में इन नदियों के वहाव क्षेत्रों में अवस्थित कुओं का जलस्तर गहरा होता जा रहा है तथा जल की गुणवत्ता में भी नकारात्मक परिवर्तन हो रहे हैं । अन्य स्थानों पर तो भूमिगत जल का गिरता स्तर अत्यंत शोचनीय है । निरन्तर गहराते जल स्तर के लिए वर्षा की कमी के अतिरिक्त भूमिगत जल का अतिदोहन भी समान रूप से उत्तरदायी है । इंदिरा गांधी नहर के आगमन से इस क्षेत्र के कृषि परिदृश्य में विशाल परिवर्तन परिलक्षित हुए हैं । हिमालय के जल से जहां विपुल कृषि उत्पादन की संभावना बलवती हुई है, वहीं नवीन समस्याओं का भी प्रादुर्भाव हुआ है । अनियंत्रित जल प्लावन विधि द्वारा सिंचाई तथा जल रिसाव से एक ओर तो बहुमूल्य जल का दुरूपयोग होता है, वहीं दूसरी ओर प्रभावित क्षेत्रों में गहरे पैठे क्षार पुनः सतह पर आ कर भूमि की उर्वरकता को क्षीण कर रहे हैं । नहर के मरु प्रदेश में आगमन के साथ यहां के पर्यावरण में परिवर्तन आरंभ हो गये हैं । वानस्पतिक तथा प्राणि संरचना में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे हैं । वर्षा बहुल अथवा सिंचित क्षेत्रों में पाये जाने वाले कीट व्याधियां यहां दस्तक देने लगे हैं ।

मरु वासियों का प्राचीनतम व्यवसाय पशुपालन रहा है । आज भी यह जीविका तथा अर्थ उपार्जन का मुख्य आधार है । यह क्षेत्र श्रेष्ठ पशुधन का उद्‌गम स्थल रहा है । परन्तु विदेशी नस्लों की उच्च दुग्ध उत्पादन क्षमता से प्रेरित हो स्थानीय दुर्लभ नस्लों का वहद् स्तरीय संकरीकरण कर दिया गया है । आने वाले समय में इनके दुष्परिणाम सामने आने की आशंका है । आधुनिक कृषि में यंत्रीकरण की प्रवृति के कारण पशुशक्ति का महत्व कम हो गया है, किन्तु देसी खाद की निरन्तर बढ़ती मांग के चलते इनकी प्रासंगिकता वनी रहेगी । इस क्षेत्र की भेड़ व बकरियों की नस्लें देश में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं ।

जनसंख्या तथा सिंचाई के साधनों की उपलब्धता में वृद्धि के साथ ही गोचर तथा चारागाह भूमि का कृषि के लिए उपयोग उतरोत्तर बढ़ रहा है । विकास कार्यों के लिए भी इसी भूमि का प्रयोग किया जाता है, जिससे चारागाह संकुचित होते होते विलुप्ति की ओर अग्रसर हैं । दूसरी ओर नित्य वढ़ती पशु संख्या का दवाव, जिनमें अनुत्पादक पशु भी सम्मिलित हैं, उपलब्ध चारागाह स्थलों का क्षमता से अधिक दोहन करते हुए इन्हें अनुर्वरकता की ओर धकेल रहे हैं । भेड़ पालकों का अन्यत्र पारगमन निरंतर वढ़ रहा है ।

पशु उपयोगी घासों की सर्वोत्तम प्रजातियों की उद्‌गम स्थली थार में प्राकृतिक चारागाह सिमटते जा रहे हैं । अवैज्ञानिक तरीकों से चराई का पौष्टिक घास की वृद्धि पर विपरीत असर पड़ता है । नये चारागाह प्रोन्नत करने हेतु भारी भरकम धनराशि की आवश्यकता तथा आरंभिक वर्षों में सुरक्षा के सुप्रवंध के अभाव में इस ओर सामुदायिक अथवा व्यक्तिगत स्तर पर कोई प्रगति नहीं हो पायी है । राज्य संरक्षित क्षेत्रों के विकास में जन भागीदारी का अभाव दृष्टिगोचर होता है । पड़ती भूमि पर राज्य अथवा केन्द्र सरकार, स्वैच्छिक संगठनों तथा जन साधारण की सहभागिता से चारागाह विकास की अच्छी संभावना बनती है । मरु-वानिकी के क्षेत्र में अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है । टीवा स्थिरीकरण कार्यक्रम के अच्छे परिणाम सामने आने लगे हैं । परन्तु वनीकरण का कार्य अभी भी वांछित गति प्राप्त नहीं कर पाया है । व्यक्तिगत उपयोग, व्यापार, उद्योग तथा विकास कार्यों के लिए ईंधन हेतु वृक्ष व झाड़ी आदि काटना अभी भी ज़ारी है । काटे गये वृक्षों के स्थान पर नवीन वृक्षारोपण की आदत का विकास अभी करना है । शुष्क वातावरण में शीघ्र वृद्धि की क्षमता युक्त वृक्ष प्रजातियों पर यद्यपि शोध कार्य प्रगति पर है, तथापि इस कार्य को गति देने की आवश्यकता है । सामाजिक वानिकी जैसे सर्वजनहिताय कार्यक्रम अभी शैशव अवस्था में ही है । कृषि वानिकी पद्धतियों का आकलन प्रगति पर है ।

मरु उद्यानिकी के क्षेत्र में हुई प्रगति के कारण शुष्क क्षेत्रों में फल उत्पादन के प्रति रुचि जाग्रत हुई है । असिंचित क्षेत्रों में वेर सर्वाधिक लोकप्रिय फल के रूप में उभरा है । काजरी द्वारा विकसित पौधशाला तकनीकी तथा फलोत्पादन विधियों को किसानों का समर्थन मिला है तथा ये व्यापक स्तर पर ग्रहण की गयी हैं । नहरी क्षेत्रों में फल उत्पादन गतिविधियां अधिक प्रचलित हैं, किन्तु वर्षा आधारित क्षेत्रों में इनका विस्तार अपेक्षाकृत धीमा है । शुष्क जलवायु के उपयुक्त अन्यान्य वैकल्पिक फलों के वारे में अनुसंधान की महती आवश्यकता है । फसलोपरांत तकनीकी द्वारा फलों से विभिन्न पेय व खाद्य पदार्थ बनाने की विधियां विकसित की जा रही हैं ।

भारत के शुष्क तथा अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में प्रचुर जैव विविधता विद्यमान है, जिनमें दुर्लभ जड़ी वूटियां तथा अन्य वहुउपयोगी वनस्पति सम्मिलित हैं । ये अपने में शुष्क परिस्थितियों में जीवन यापन तथा वृद्धि की आनुवांशिक विशेषताएं संजोये हैं, जिनका उपयोग श्रेष्ठ वानस्पतिक विकास हेतु किया जा सकता है । तथापि इस क्षेत्र में बहुत कुछ करना शेष है । तात्कालिक आवश्यकता जैव विविधता के ह्रास का निषेध करने की है । ऐसी वनस्पतियों के बारे में, जिनका अल्प उपयोग हुआ हो अथवा अभी तक उपयोग न किया जा सका हो, विस्तार से अध्ययन करना अभीष्ठ है ।

रुक्ष क्षेत्रों में निर्बाध सौर ऊष्मा की वर्ष पर्यन्त उपलब्धता का बड़े पैमाने पर दोहन करना अभी तक आरंभ नहीं किया जा सका है । उच्च आरंभिक लागत वाली वर्तमान तकनीकी में सुधार कर इसे जन साधारण की क्रय शक्ति के दायरे में लाना वैज्ञानिकों के लिए चुनौती है । सर्वत्र उपलब्ध पवन ऊर्जा के सदुपयोग की ओर भी पर्याप्त ध्यान देना श्रेयस्कर होगा । गैर पारंपरिक ऊर्जा के स्त्रोतों की खोज के कार्य को गति देकर पारंपरिक ऊर्जा के संरक्षण का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है ।

यद्यपि पिछले कुछ दशकों में कृषि वैज्ञानिकों द्वारा शुष्क कृषि के क्षेत्र में बहुत उपयोगी जानकारी तथा तकनीकी का सृजन किया जा चुका है, परंतु इनका लाभ सर्व साधारण तक पहुंचाने का कार्य अति शिथिल गति से हुआ है । इसमें कृषक समुदाय की उदासीनता भी आंशिक रूप से उत्तरदायी है । विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं के सफल क्रियान्वयन की ओर पर्याप्त प्रयास किए जाने वांछित हैं । किसान समुदाय के इन कार्यक्रमों से जुड़ने तथा अपनी आवश्यकताएं व प्राथमिकताएं वैज्ञानिकों के सम्मुख रखने से ही ऐसी तकनीकी का विकास संभव है, जो उन्हें ग्राह्य हो तथा जिसकी उपादेयता स्थापित की जा सके ।

काजरी : एक परिचय

स्थापना

पचास के दशक में भारतीय राष्ट्रीय वैज्ञानिक अकादमी ने राजपूताना रेगिस्तान पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया । इस संगोष्ठी में रेगिस्तान की निरन्तर अव्हासित होती स्थिति पर विचार विमर्श के पश्चात् स्थिति मे सुधार हेतु अपनी प्रस्तावनाएँ सरकार को प्रस्तुत की गईं । इन प्रस्तावों के अध्ययन हेतु सरकार ने एक समिति का गठन किया, जिसने वनीकरण अनुसंधान संस्थान देहरादून के प्रशासकीय नियन्त्रण के अधीन जोधपुर, राजस्थान में एक वनीकरण अनुसंधान केन्द्र स्थापित करने हेतु अपनी संस्तुति सरकार को प्रस्तुत की । इसी संस्तुति के अनुकरण में वनीकरण से सन्बन्धित सन्दर्भो, रेत के टीबों के स्थिरीकरण, छायादार पौधरोपण एवं कृषि व पशुपालन संबंधित अनुसंधान करने हेतु 1952 में *मरु वनीकरण केन्द्र* के रूप में इस संस्थान की स्थापना हुई । 1959 में भारत के रुक्ष एवं अर्द्ध रुक्ष क्षेत्रों की समस्याओं पर सर्वांगीण अनुसंधान करने हेतु इस केन्द्र का पुनर्गठन कर एक पूर्ण अनुसंधान संस्थान का रूप दिया गया । इस संस्थान का नाम रखा गया *केन्द्रीय रुक्ष क्षेत्र अनुसंधान संस्थान*, जिसका अंग्रेजी संक्षिप्त रूप *काजरी* बहुत लोकप्रिय हुआ तथा संस्थान को अभी तक इसी बहुप्रचलित नाम से जाना जाता रहा है । अप्रेल 1966 में इसका प्रशासनिक नियन्त्रण भारत सरकार के कृषि मंत्रालय से स्थानान्तरित कर भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् को सौंप दिया गया ।

प्रमुख उद्देश्य

अपनी स्थापना से ही संस्थान मरुस्थलीय क्षेत्र की उत्पादकता को बढाने के लिए आवश्यक एवं उचित प्रभावकारी जानकारी विकसित करने हेतु प्रयास रत रहा है । संस्थान के प्रमुख उद्देश्य हैं

- शुष्क प्रदेश के प्राकृतिक संसाधनों का सर्वेक्षण एवं विकास
- उपलब्ध जल संसाधनों का अध्ययन एवं उनका सुचारु प्रयोग, वर्षा, तलीय व भूजल का अध्ययन और उसके संग्रहण के उचित उपाय
- मृदा, जल तथा वनस्पति का संरक्षण व प्रभावकारी प्रयोग
- विभिन्न प्राकृतिक परिस्थितियों में उगने वाले उपयोगी पेड़ों, झाड़ियों व अन्य वानस्पतिक प्रजातियों का स्थापन, अध्ययन एवं विकास
- फसल, घास, चारे व फलों की उन्नत किस्मों का विकास एवं उनके बुवाई कटाई, संधारण, संग्रहण, उर्वरक देयता, नाशीकीट - व्याधि नियन्त्रण आदि की उन्नत तकनीकों का विकास
- पशुओं की उन्नत नस्लों का विकास तथा उनके प्रवन्ध व रख रखाव के उन्नत तरीकों का विकास
- कृषकों हेतु सुविधाजनक, सस्ते एवं स्तरीकृत यंत्रों का विकास

- ऊर्जा के अपारम्परिक स्रोतों- सौर व वायु ऊर्जा के प्रभावकारी प्रयोग की तकनीक विकसित करना
- विकासीय गतिविधियों हेतु क्षेत्र के सामाजिक आर्थिक सर्वेक्षण द्वारा आँकड़े उपलब्ध करना
- उन्नत तकनीकों को प्रयोगशाला से किसानों के खेतों मे पहुंचाना, किसानों को प्रसार साहित्य, किसान मेलों, संगोष्ठियों, प्रदर्शनियों आदि द्वारा उनकी जानकारी देना

संस्थान द्वारा किये जा रहे निरन्तर प्रयासों के परिणामस्वरूप ही आज काजरी मरु क्षेत्रों पर अध्ययन करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त संस्था है । यह एक वहुविषयी अनुसंधान संगठन है, जहां 30 विभिन्न विषयों पर अनुसंधानात्मक अध्ययन सुविधा उपलब्ध है । काजरी के अथक एवं अनवरत प्रयासों के फलस्वरूप ही थार रेगिस्तान वैज्ञानिकतः संसार का सर्वाधिक अध्ययनित मरुस्थल एवं काजरी रेगिस्तान पर अध्ययन करने वाली सबसे वड़ी संस्था है ।

अनुसंधान संगठन एवं सुविधाएँ

अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु संस्थान सुसंगठित है । संस्थान में सम्प्रति आठ संभाग हैं, जो विभिन्न अनुभागों में विभाजित हैं । संभागों की संरचना में आवश्यकता एवं प्राथमिकता के आधार पर परिवर्तन होते रहते हैं । विभिन्न विषयों पर विस्तृत आधार पर आवश्यकता आधारित अनुसंधान करने हेतु संस्थान के पास पूर्ण सुसज्जित और सभी सुविधाओं युक्त प्रयोगशालाएं हैं । संसाधन परिस्थिकी, जल विज्ञान, मृदा उर्वरता, जैव तकनीकी, ऊतक-संवर्द्धन, पौध प्रजनन, पौध संरक्षण, वन संवर्द्धन, मौसम विज्ञान, सौर ऊर्जा, उत्पाद संधारण आदि प्रयोगशालाएं न केवल काजरी के वैज्ञानिकों, अपितु विदेशों से आए अनुसंधानकर्ताओं, शोध छात्रों आदि के भी प्रयोग में आती हैं ।

संस्थान के तीन क्षेत्रीय अनुसंधान केन्द्र बीकानेर (192 है.), जैसलमेर (133 है.) व पाली (455 है.) राजस्थान में तथा एक भुज (58 है.) गुजरात में स्थित हैं । ये विभिन्न कृषि-जलवायु क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं । चार क्षेत्रीय चारा प्रबन्ध और मृदा संरक्षण क्षेत्र क्रमशः चांदन (95 है.), बीचवाल (71 है.), भोपालगढ (51 है.) और जाडन (77 है.) में, तथा दो वनीकरण क्षेत्र कायलाना और बेरीगंगा में हैं । संस्थान के दो कृषि विज्ञान केन्द्र जोधपुर व पाली में कार्यरत हैं । इन सभी का संचालन 150 वैज्ञानिकों द्वारा 254 तकनीकी, 122 प्रशासनिक एवं 43 सहायक कर्मचारियों की सहायता से किया जाता है ।

पुस्तकालय

1952 में 400 पुस्तकों से प्रारम्भ किया गया संस्थान का *रहेजा पुस्तकालय* (काजरी के प्रथम निदेशक डॉ. पी.सी. रहेजा के नाम पर) आज नवीनतम सुविधाओं युक्त समृद्ध पुस्तकालयों की श्रेणी में आता है । यह न केवल स्थानीय अनुसंधानकर्ताओं, अपितु वाहर के वैज्ञानिकों, उच्चतर अध्ययन कर रहे छात्रों तथा कृषि अनुसंधान तथा विकास में लगे अन्य विभागों के

कार्यकर्ताओं हेतु भी एक बहुत उपयोगी सूचना का स्रोत है । इसमें 18,000 पुस्तकें संग्रहित हैं तथा 105 कालिक प्रकाशन और 210 पत्रिकाएं नियमित रूप से प्राप्त की जाती हैं ।

इस पुस्तकालय की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि यहाँ पर्यावरण मंत्रालय द्वारा आठवीं पंचवर्षीय योजना में अपक्षरण (डेजर्टिफिकेशन) पर पर्यावरण सूचना पद्धति केन्द्र की स्थापना की गई । यह सूचना केन्द्र पिछले 7 वर्षो से निरन्तर मरुस्थल और मरुस्थल की रोकथाम के उपायों की सूचनाएं विश्व भर में त्वरित गति से पहुंचा रहा है । इसके लिए यह केन्द्र सम्बंधित सूचनाएं एकत्रित व संग्रहित करके पाठकों/उपयोगकर्ताओं को कम्प्यूटर, ई-मेल की सहायता से पहुंचाने में सक्षम है ।

अतिथिगृह एवं छात्रावासः

बाहर से आए अनुसंधानकर्ताओं एवं प्रशिक्षुओं की सुविधा हेतु संस्थान में एक अतिथिगृह तथा छात्रावास भी हैं । अतिथिगृह में 12 एवं छात्रावास में 30 शय्याएं हैं । कृषकों की सुविधा हेतु 1982-83 में काजरी कृषि विज्ञान केन्द्र की स्थापना की गई, जहां अवस्थित किसान छात्रावास में प्रशिक्षणार्थी किसानों के ठहरने की उचित व्यवस्था है ।

संस्थान के पास आधुनिक दृश्य- श्रव्य उपकरण, इस क्षेत्र की समस्याओं और बाधाओं को दर्शाने वाले चार्ट, छायाचित्रों से सुसज्जित संग्रहालय, 114 व्यक्तियों के बैठने की क्षमता वाला प्रेक्षालय, 90 व्यक्तियों की बैठक क्षमता वाला सभाकक्ष, 30 कक्षों वाला छात्रावास, कर्मचारियों के रहने हेतु 130 रहवासीय भवन जोधपुर में, 21 पाली में तथा 10 बीकानेर मे हैं । जैसलमेर व भुज में 4-4 आवास गृह बनाए जा रहे हैं ।

शोध समन्वय, प्रशासन एवं कार्य पद्धतिः

संस्थान के प्रमुख निदेशक हैं, जो अनुसंधान, प्रसार, प्रशिक्षण और प्रशासन की गतिविधियों के प्रभारी हैं । निदेशक की सहायता हेतु शोध समन्वय एवं प्रबन्ध अनुभाग है, जो अनुसंधान से सम्बन्धित गतिविधियों के समन्वयन का कार्य करता है । इसका प्रशासन एक प्रधान वैज्ञानिक द्वारा देखा जाता है । प्रशासनिक एवं वित्तीय मामले निदेशक के निर्देशन में वरिष्ठ प्रशासकीय अधिकारी एवं वरिष्ठ वित्त एवं लेखा अधिकारी द्वारा देखे जाते हैं । संस्थान से सम्बन्धित निर्णयों हेतु सर्वोच्च प्राधिकृत संस्थान प्रबन्ध समिति है, जिसके अध्यक्ष निदेशक हैं ।

अनुसंधान कार्यक्रम पहले वैज्ञानिकों द्वारा तैयार किये जाते हैं । तत्पश्चात् इस पर वैज्ञानिक अनुसंधान परिषद् में विस्तृत विचार किया जाता है । संस्थान के समस्त वैज्ञानिक इसके सदस्य तथा निदेशक अध्यक्ष होते हैं । वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत परियोजनाएं विस्तृत विवेचना के पश्चात गुणावगुणों के आधार पर स्वीकृत की जाती हैं । भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् द्वारा मनोनीत उच्च स्तरीय वैज्ञानिक अधिकारी इसमें उचित मार्गदर्शन हेतु उपस्थित रहते हैं ।

संस्थान के अनुसंधान कार्यक्रमों को पुनर्विचारित करने के लिए एक अनुसंधान सलाहकार समिति भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् द्वारा गठित की जाती है, जो समय समय पर अनुसंधान कार्यक्रमों की पुनरीक्षा करती है ।

गतिविधियाँ

संस्थान में मरु क्षेत्रों से संबंधित प्रत्येक ग्राह्य विषय पर आधारभूत, प्रायोगिक एवं समस्या आधारित अनुसंधान कार्य किया जाता है । अभी 150 कृषि वैज्ञानिक भौतिक, रासायनिक, जैविक और सामाजिक विज्ञान से संबंधित लगभग 150 परियोजनाओं पर कार्य कर रहे हैं । इन वैज्ञानिक गतिविधियों में सम्मिलित हैं :

- आधारभूत संसाधन तालिका
- रेगिस्तानीकरण प्रबोधन
- अह्रासित भूमि का पुनरुद्धार और प्रबन्ध
- वनीकरण और वायु कटाव नियन्त्रण
- शुष्क कृषि और एकीकृत जलग्रहण प्रबन्धन
- वैकल्पिक भू उपयोग पद्धति निर्धारण
- सीमित मात्रा में सिंचाई हेतु उपलब्ध जल का समुचित प्रयोग
- क्षारीय भूमि प्रबन्ध और मृदा संरक्षण
- कृषि फसलों, घासों, झाड़ियों और पेड़ों की किस्मों का सुधार
- पशु उत्पादन और प्रबन्ध
- अल्प प्रयुक्त, अप्रयुक्त और अल्प विदोहित पौधों से प्राकृतिक उत्पादन
- कृषि उत्पादन की संधारण प्रक्रिया
- एकीकृत नाशी कीट एवं व्याधि प्रबन्धन
- अपारम्परिक ऊर्जा प्रयोग और कृषि अभियांत्रिकी
- सामाजिक-आर्थिक अनुसंधान, मानव संसाधन विकास
- खेतों पर अनुसंधान और तकनीक हस्तांतरण
- एकीकृत जल संग्रहण प्रबंध

इस प्रकार काजरी की गतिविधियों में वे सभी मुख्य तथ्य सम्मिलित हैं, जो रेगिस्तान के विकास से सम्बन्धित हैं । इस क्षेत्र के स्थायी विकास के मार्ग एवं साधन विकसित करना इन सभी गतिविधियों का प्रमुख लक्ष्य है , जिससे आशाजनक उत्पादन और गुणवत्ता प्राप्त की जा सके ।

प्राकृतिक संसाधन

भौगोलिक विस्तार

उत्तर पश्चिमी रुक्ष क्षेत्र 22° 30' से 32°5' उत्तरी अक्षांश तथा 68° 5' से 75° 45' पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है । कुल 3.17 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र उष्ण मरुस्थल है । राज्यवार मरुक्षेत्र का विवरण निम्न सारिणी में प्रदर्शित किया गया है:

तालिका :- भारत में रुक्ष क्षेत्र का वितरण और जनसंख्या

राज्य	क्षेत्रफल (वर्ग कि.मी.)	कुल रुक्ष क्षेत्रफल का प्रतिशत	प्रत्येक राज्य का प्रतिशत	जनसंख्या 1991 (लाख में)	जनसंख्या का घनत्व	रुक्षता का सूंचकांक
राजस्थान	196150	61.86	57.31	174	84	78
गुजरात	62180	19.61	31.72	46	74	76
पंजाब	14570	4.57	28.81	40	286	75
हरियाणा	12840	4.05	29.04	33	254	74
आन्ध्रप्रदेश	21550	6.80	7.83	33	150	68
कर्नाटक	8570	2.70	4.47	13	145	68
महाराष्ट्र	1290	0.41	0.42	3	300	68
कुल	317090	100.00	9.65	342	104	-

जलवायु

रुक्ष क्षेत्र को मुख्यतयः जलवायु के आधार पर ही विभाजित किया जाता है, जिसमें वाष्पोत्सर्जन तथा नमी सूचकांक की महती भूमिका है । अधिकतया वर्षा दक्षिणी पश्चिमी मानसून के द्वारा होती है । राजस्थान व गुजरात के रुक्ष क्षेत्रों में सम्पूर्ण वर्षा का 85 प्रतिशत तक इसी मानसून से प्राप्त होता है । महाराष्ट्र के शुष्क भागों में यह प्रतिशत 61 से 63 तथा आंध्रप्रदेश और कर्नाटक में 53 से 60 तक है । उत्तरी रुक्ष क्षेत्र में औसत वार्षिक वर्षा 100 मि.मी. से कम से लेकर 400 मि.मी. से कुछ अधिक तक प्राप्त होती है, जबकि दक्षिणी गुजरात के भाग में 450 मि.मी. तथा आंध्रप्रदेश और कर्नाटक के भागों में 500 मि.मी. से अधिक तक वर्षा प्राप्त होती है । वर्षा की विविधता का सूचकांक भी 50 से लेकर 70 प्रतिशत को पार कर जाता है । दक्षिणी पठारी भागों में यह प्रतिशत 34 - 40 तक ही रहता है । इसके कारण उत्तरी भाग में फसलीय मौसम 11 से 13 सप्ताह (जुलाई से) तथा दक्षिणी भाग में 8 से 13 सप्ताह (अगस्त से) का होता है ।

भारत के उत्तरी पश्चिमी रुक्ष क्षेत्र में मई और जून सबसे गर्म महीने होते हैं, जब औसत तापमान 40° - 43° सेल्सियस तक रहता है । दक्षिणी भागों में औसतन तापमान 39° - 41° सेल्सियस तक पहुंच जाता है । शीत ऋतु में औसतन न्यूनतम तापमान 3° से 10° सेल्सियस तक रहता है । गुजरात तथा महाराष्ट्र के क्षेत्रों में न्यूनतम तापमान 11° से 15° सेल्सियस तक, तथा आंध्रप्रदेश और कर्नाटक के क्षेत्रों में 16° से 18° सेल्सियस तक रहता है । सबसे अधिक वायु गति गुजरात के शुष्क क्षेत्रों में (20 से 30 कि.मी.प्रति घंटा) रहती है, जो तीव्र आँधी के समय 60 से 110 कि.मी. प्रति घंटा हो जाती है । दक्षिणी भागों में अधिकतम वायुगति 16 - 18 कि.मी. प्रति घंटा रहती है । रुक्ष क्षेत्रों में सापेक्षिक आर्द्रता अक्टूबर से लेकर मई तक के वर्षा विहीन काल में बहुत कम रहती है । गर्मी के महीनों में दोपहर बाद कभी - कभी सापेक्षिक आर्द्रता घटकर 2 से 3 प्रतिशत तक पहुंच जाती है । वर्षा ऋतु में यह बढ़कर 60 से 70 प्रतिशत हो जाती है । सम्भावित वाष्पोत्सर्जन (पी ई) की मात्रा रुक्ष क्षेत्रों में बहुत अधिक रहती है । वार्षिक वाष्पोत्सर्जन की मात्रा पंजाब में 130 से.मी. से बढ़ती हुई हरियाणा में 160 तथा राजस्थान में 200 सेंटीमीटर तक पहुंच जाती है ।

भू-आकृतियाँ

पंजाब व हरियाणा का भाग मुख्यतः समतल पुरांने कछारी मदानों से बना है, जबकि राजस्थान के भाग में पुराने व नवीन जलोढ़ मैदान, अन्तरटीबा मैदान, रेतीले टीबे तथा टीबा मिश्रित रेतीले मैदान प्रमुख भू-आकृतियाँ हैं । इसके अतिरिक्त पहाड़ियां, पथरीले व चट्टानी शैलपद, रेतीले लहरदार पुराने कछारी मैदान, रेतीले लहरदार दवे शैलपद, क्षारीय समतल पुराने कछारी मैदान, नमक की झीलें, तथा सूखी नदियाँ हैं । पश्चिमी भाग मुख्यत: रेतीले टीबों (10 से 60 मीटर ऊंचे) से आच्छादित है, जबकि पहाड़ियाँ (जो अरावली का भाग है) रुक्ष क्षेत्र की पूर्वी सीमा के साथ - साथ चलती हैं । गुजरात के रुक्ष क्षेत्र में पहाड़ियां, उर्धभूमियां, समतल दवे शैलपद, पथरीले व चट्टानी शैलपद, क्षारीय रन तथा तटीय मैंदान प्रमुख भू-आकृतियाँ पायी जाती हैं । नमक के बीच- बीच में द्वीपाकार वेट भी पाये जाते हैं ।

मृदाएं

उत्तर पश्चिमी रुक्ष क्षेत्र की मृदाओं को चार प्रमुख प्राकृतिक विभागों के आधार पर विभक्त किया जा सकता है । पश्चिमी राजस्थान में रेतीली मिट्टी की प्रमुखता है, जो करीब 58 प्रतिशत भाग को ढ़के हुए है । यह मिट्टी बारीक रेतीली और गहरी होती है । इनमें पानी को संचय करने की क्षमता कम होती है । अन्तरटीबों में कुछ मात्रा में क्ले व सिल्ट भी विद्यमान है । 32 प्रतिशत भाग में हल्की भूरी रेतीली मिट्टी पायी जाती है । दक्षिणी पश्चिमी राजस्थान के जलोढ़ मैंदानों में मध्यम गठन वाली भूरे रंग की दुमट तथा क्षारीय मृदाएं महत्वपूर्ण हैं । गहरे भूरे रंग की ये मृदाएं दुमट से क्ले दुमट वाली तथा गहरी होती हैं । इनमें पानी को संचय करने की क्षमता बहुत अधिक होती है । क्षारीय मृदाओं में लवणों की मात्रा अधिक होती है । ये रेतीली दुमट से क्ले दुमट गठन वाली होती है तथा 50 से 80 सेन्टीमीटर गहरी होती हैं । इनके नीचे चूनायुक्त कंकरीली परत पायी जाती है ।

उत्तरी राजस्थान में घग्घर नदी द्वारा जमा की गयी मिट्रटियों की प्रचुरता है, जो हल्की भूरी बालुई दुमट गठन की हैं । इनमें भी नीचे चूना मिश्रित परत पायी जाती है । नदियों के किनारे किनारे वारीक गठन वाली जलोढ़ मिट्टियां पायी जाती हैं । पंजाब के क्षेत्र में भूरी, पीली, भूरी से गहरी भूरी, दुमट रेतीली से दुमट गठन की मिट्टियाँ पायी जाती हैं । हरियाणा के भागों में मुख्यतः दुमट बलुई से बलुई दुमट मिट्टियाँ पायी जाती है । कहीं - कहीं पर टीवों की रेतीली मिट्टी भी मिलती है । गुजरात के भागों की मिट्टियाँ उथली तथा प्रमुखतः जलोढ, वेसाल्ट चट्टानों की क्ले लोम तथा सिल्टी लोम, चूने के पत्थर से विकसित लोम तथा क्ले लोम व लेटराइट गठन की होती हैं । कर्नाटक व ऑध्रप्रदेश के भागों में लाल मिट्टी प्रमुख रूप से पायी जाती है, जो अधिकतर कम गहराई की होती है ।

भू-गर्भीय चट्टानें

भारतीय रुक्ष क्षेत्र की चट्टानें आरकियन से क्वाटरनरी काल की हैं । सवसे पुरानी चट्टानें अरावली प्रणाली की माइका शिष्ट हैं तथा इसके वाद की रायलो श्रृंखला का लाइमस्टोन, तथा दिल्ली प्रणाली की क्वार्टजाइट, काल्क-शिष्ट, माइका शिष्ट है । इनके वीच - वीच में जालोर, सिवाना व एरिनपुरा ग्रेनाइटस तथा मालानी वालकेनिक चट्टानें पायी जाती है । विंध्य प्रणाली की अवसदी चट्टानों में सैंडस्टोन तथा लाइमस्टोन प्रमुख है । मेसोजोइक ग्रुप की ज्यूरेसिक तथा क्रिटेसियस सिस्टम की चट्टानों में लाइमस्टोन, सैंडस्टोन, क्वार्टजाइट, तथा सेल्स प्रमुख है, जो बीकानेर व जैसलमेर जिलों में फैली हुई हैं । ज्यूरेसिक काल की चट्टानें कच्छ जिले में वहुतायत से हैं । दक्षिणी पश्चिमी कच्छ तथा सौराष्ट्र के भागों में क्रिटेसियस से इओसीन काल की दकन ट्रेप की चट्टानें प्रमुख है टरशियरी वर्ग की चट्टानें मुख्यतयः इओसीन काल की है, इसमें वीकानेर का सैंडस्टोन मुख्य है । ये पानी के अच्छे स्रोत हैं । कच्छ व सौराष्ट्र में चट्टानें सेडस्टोन तथा लाइमस्टोन के रूप में मिलती है । प्लीस्टोसीन से नवीन काल की क्वाटरनरी ग्रुप की चट्टानों में मुख्यतः जलोढ़ तथा उड़ी हुई वालू है । हरियाणा और पंजाव में जलोढ़ की गहराई 30 मीटर तक है । कर्नाटक तथा आंध्रप्रदेश के रुक्ष क्षेत्रों में दकन ट्रेप की वेसाल्ट चट्टानें प्रमुख हैं । सैंडस्टोन, लाइमस्टोन तथा जलोढ़ के क्षेत्र ही भू-गर्भीय जल के प्रमुख स्रोत हैं । अन्य में भू-गर्भीय जल खारा और बहुत कम मात्रा में पाया जाता है ।

जल संसाधन

सतही जल संसाधन

भारतीय रुक्ष क्षेत्र में अनवरत वहने वाली नदियों के अभाव में सतही जल संसाधन की बहुत कमी है । पश्चिमी राजस्थान में छोटे वड़े करीव 550 जलाशय हैं, जिनकी क्षमता 15 से 2080 लाख घन मीटर तक है । इनकी कुल उपयोग क्षमता करीव 11693 लाख घन मीटर है । लूनी वेसिन का क्षेत्र पूर्वी भाग का सवसे वड़ा सतही जल संसाधन स्रोत है, जिसकी कुल वहाव क्षमता 8690 लाख घन मीटर है । इसमें से कुल 3860 लाख घन मीटर पानी का ही उपयोग हो पाता है पश्चिमी राजस्थान की समस्त नदियों की वहाव क्षमता करीब 11320 लाख घन मीटर है,

जिसमें से केवल 5310 लाख घन मीटर पानी का ही उपयोग हो पाता है । सम्पूर्ण रुक्ष क्षेत्र में सभी नदियों की बहाव क्षमता कुल मिलाकर 99430 लाख घन मीटर आंकी गयी है । पंजाब व हरियाणा के रुक्ष क्षेत्र मुख्यतः भाखरा नहर फीरोजपुर फीडर तथा पश्चिमी यमुना नहर द्वारा सिंचित हैं, जिसकी संभावित जल मात्रा 62191 लाख घनमीटर के करीब है । जबकि इंदिरा गाँधी नहर प्रणाली के औसतन कुल पानी का निकास 45670 लाख घन मीटर व औसत दैनिक प्रवाह 113 से 227 क्यूसैक्स है । गुजरात के रुक्ष क्षेत्र में नदियों की बहाव क्षमता करीब 11600 लाख घन मीटर है तथा सतही जल की संभावित मात्रा 5680 लाख घनमीटर से 29540 लाख घन मीटर के मध्य आंकी गयी है । आंध्रप्रदेश व कर्नाटक के क्षेत्रों में तालाब ही सतही जल का मुख्य स्रोत है ।

भूमिगत जल

भूमिगत जल की वर्तमान स्थिति के हिसाब से पश्चिमी राजस्थान के करीब 21.86 प्रतिशत भाग में भूमिगत जल का अधिकतम दोहन हुआ है । 21.42 प्रतिशत क्षेत्र में जल की उपलब्धता सामान्य है तथा 52.92 प्रतिशत क्षेत्र में भूमिगत जल की मात्रा बहुत कम है । कुल औसत रिचार्ज 29575 लाख घन मीटर है, जिसमें से करीब 24354 लाख घन मीटर जल का सिंचाई के लिये उपयोग किया जा सकता है । इस प्रकार कुल जल 1293।लाख घनमीटर रह जाता है । भूमिगत जल में समायोजित सोडियम अधिशोषण अनुपात तथा अवशिष्ट सोडियम कार्बोनेट की अधिक मात्रा के कारण अधिकतर पानी खारा व सोडिक है । पानी 8 मीटर से 105 मीटर गहराई तक मिलता है । गुजरात के रुक्ष क्षेत्र में दोहन योग्य संभावित भूमिगत जल करीब 39387 लाख घनमीटर है, जिससे करीब 7877 वर्ग कि.मी. क्षेत्र को सिंचित किया जा सकता है ।

भूमि उपयोग

जलवायु, मिट्टी, जल संसाधन तथा भू-आकृतियों की विभिन्नता और उनके प्रभाव के कारण भूमि उपयोग में बहुत विभिन्नताएं मिलती हैं । उत्तरी पश्चिमी रुक्ष क्षेत्र के कुल भोगोलिक क्षेत्रफल का करीब 59.2 प्रतिशत कृषि कार्य हेतु प्रयुक्त किया जाता है, जबकि 3.0 प्रतिशत क्षेत्र वन, 3.62 प्रतिशत गोचर भूमि, 3.7 प्रतिशत भाग जलाशयों के अंतर्गत आता है । शेष 30.5 प्रतिशत क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की बंजर भूमियां (वेस्ट लैंड) पायी जाती है । द्विफसली क्षेत्रफल करीब 10.0 प्रतिशत हैं । पंजाब हरियाणा का अधिकतर भाग (90 प्रतिशत से अधिक) कृषि क्षेत्र में है, जहां पर नहरों की सिंचाई द्वारा अधिकतर भाग में दो फसलें होती हैं । पश्चिमी राजस्थान के समस्त क्षेत्रफल का करीब 62.94 प्रतिशत भाग कृषि के अन्तर्गत है । स्थायी चारागाह 4.56 प्रतिशत, वन 1.32 प्रतिशत, बसावट व जलाशय 2.85 प्रतिशत क्षेत्र घेरते हैं, जबकि 0.2 प्रतिशत खदानी तथा 28.13 प्रतिशत भाग बंजर भूमि के अन्तर्गत है । रेतीले टीबे अधिकतर भाग को ढ़के हुए है । इसके अतिरिक्त पथरीली, चट्टानी तथा क्षारीय भूमि भी है ।

वन अधिकतर अरावली पहाड़ियों पर ही पाये जाते हैं । गोचर भूमि पश्चिमी भाग में अधिक है । कुल कृषि भूमि के करीब 89 प्रतिशत भाग में एक फसलीय बारानी खेती होती है । वार्षिक फसल क्षेत्रफल वर्षा पर निर्भर करता है । पड़त भूमि यहां पर अक्सर रखी जाती है । इस

भाग में शुद्ध सिंचित क्षेत्र सम्पूर्ण क्षेत्रफल का 7.79 प्रतिशत तथा कुल कृषि भूमि का 10.42 प्रतिशत है । वाजरा, ग्वार, मूंग, मोठ, तिल प्रमुख खरीफ फसल है, जबकि रबी में सरसों, गेंहू, चना, आदि होता है । इसके अतिरिक्त कपास, मिर्च, जौ, जीरा व ईसबगोल की पैदावार भी होती है ।

गुजरात के रुक्ष क्षेत्र में क्षारीय भूमि, रन तथा पथरीली व चट्टानी भूमि का भाग अधिक है । इसलिये बंजर भूमि का प्रतिशत कच्छ जिले में 76.22 तथा जामनगर में 19.58 प्रतिशत है । सिंचित क्षेत्र करीब 11 प्रतिशत है । ग्वार, बाजरा, मूंगफली व कपास प्रमुख फसलें है । अधिकतर कृषि क्षेत्र बारानी है । पानी द्वारा कटाव, क्षारीयता तथा खार व भूमिगत जल का अभाव प्रमुख समस्याएं हैं ।

प्राकृतिक संसाधनों का एकीकृत सर्वेक्षण

अब तक 214334 वर्ग कि.मी.क्षेत्र का आवक्षी स्तर पर, 218072 वर्ग कि.मी. का अर्ध विस्तृत स्तर पर तथा 1378 वर्ग कि.मी.क्षेत्र का विस्तृत सर्वेक्षण किया जा चुका है । इसके अलावा 170649 वर्ग कि.मी. का विशेष रूप से सर्वेक्षण व मानचित्रण पूरा हो चुका है । एकीकृत संसाधन सर्वेक्षण के तहत राजस्थान के 134776 वर्ग कि.मी. (39.38 प्रतिशत), गुजरात के 61093 वर्ग कि.मी. (31.17 प्रतिशत), पंजाब के 1178 वर्ग कि.मी. (2.34 प्रतिशत), हरियाणा के 3516 वर्ग कि.मी. (7.95 प्रतिशत) तथा कर्नाटक राज्य के 2067 वर्ग कि.मी. (1.08 प्रतिशत) क्षेत्र में सर्वेक्षण किया जा चुका है । इन सभी प्रकार के सर्वेक्षण तथा मानचित्रण के लिये हवाई छायाचित्र तथा सुदूर संवेदन तकनीक के उपगृह चित्र विस्तृत रूप से प्रयोग में लाये जाते हैं ।

विशिष्ट सर्वेक्षण कार्य

भूमि उपयोग सर्वेक्षण

राजस्थान सरकार के अनुरोध पर 1980 में इंदिरा गाँधी नहर क्षेत्र के गंगानगर, चुरू व जैसलमेर जिलों के वर्तमान भूमि उपयोग मानचित्र वनाकर दिये गये । 1991 में राष्ट्रीय सुदूर संवेदन एजेन्सी (एन.आर.एस.ए.) के लिये भारतीय सुदूर संवेदन उपगृह से प्राप्त चित्रों से राजस्थान के नौ जिलों के भूमि उपयोग मानचित्र 1: 250,000 पैमाने पर तैयार किये गये । इनमें बीकानेर, चुरू, बाड़मेर, जालोर, जैसलमेर, नागौर, जोधपुर, सीकर व झुन्झुनू ज़िले शामिल हैं ।

बंजर भूमि मानचित्रण

राष्ट्रीय वंजर भूमि विकास मण्डल के लिये नेशनल रिमोट सेंसिग एजेन्सी के माध्यम से छः जिलों (जोधुपर, पाली, अजमेर, टौंक, चुरू तथा सीकर) में विभिन्न प्रकार की बंजर भूमि के वितरण के मानचित्र 1: 50,000 पैमाने पर सुदूर संवेदन आंकड़ों का प्रयोग कर बनाये गये । इसी परियोजना के पांचवें चरण के तहत अब आई. आर. एस. 1-सी उपग्रह के चित्रों के आधार पर वंजर भूमि के मानचित्रण का कार्य वीकानेर व हनुमानगढ़ जिलों के लिये प्रारम्भ कर दिया गया है ।

समग्र विकास हेतु एकीकृत मिशन

आई.एम.एस.डी. परियोजना के तहत प्राकृतिक संसाधनों का मानचित्र का कार्य 1: 50,000 पैमाने पर जैसलमेर जिले की पोकरण तथा जालोर जिले की रानीवाड़ा व भीनमाल तहसीलों कें लिए पूरा कर लिया गया है। इसमें भूमि तथा जल संसाधन के विकास के लिये कार्य योंजना भी वनाई गयी है।

कायलाना जलग्रहण क्षेत्र के विकास के लिये योजना

जोधपुर के पास कायलाना जलग्रहण क्षेत्र के विकास के लिये ज़िला ग्रामीण विकास अभिकरण के लिये संसाधनों का विस्तृत सर्वेक्षण करके विकास योजना तैयार की गयी।

प्रमुख भू-संसाधन इकाइयों का परिभाषन

संसाधन सर्वेक्षण से प्राप्त तथ्यों की उपयोगिता को विकास योजनाओं में सार्थक करने के उद्देश्य से सभी संसाधनों को एकीकृत करके प्रमुख भू-संसाधन इकाइयों में विभक्त करने का कार्य किया गया। ऐसी प्रत्येक इकाई का वर्तमान भूमि उपयोग, प्रबन्ध तथा उत्पादकता को ध्यान में रखकर उसके समग्र विकास के विभिन्न आयाम तथा उपचार प्रस्तुत किये जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कृषि विकास कोष परियोजना

इस परियोजना के तहत बीकानेर के पास के छः गाँवों तेजरासर, पेमासर, वायलू नौरंगदेसर, पॉपलसर व गोसांईसर का विस्तृत संसाधन सर्वेक्षण करके विकास योजना तैयार की गयी। इसी प्रकार राजस्थान सरकार के लिए डीडीपी/ टीओटी परियोजना के अन्तर्गत ग्यारह गाँवों का विस्तृत संसाधन सर्वेक्षण कर विकास के लिए उचित उपाय सुझाए गये।

सुदूर संवेदन तकनीक द्वारा मरुस्थलीकरण का अध्ययन

सुदूर संवेदन सेवा केन्द्र, जोधपुर के साथ मिलकर भू-उपग्रह से प्राप्त आंकड़ों का अंकीय विश्लेषण करके रेत का कटाव व जमाव, गोचर भूमियों के क्षेत्र तथा वनस्पति के ह्रास तथा जैसलमेर ज़िले के सेवण घास क्षेत्र का अध्ययन किया गया, जिससे सामने आये महत्वपूर्ण तथ्य इनके उचित उपयोग व प्रबन्धन के लिए आधार सावित होगें।

लवण प्रभावित मृदाओं का मानचित्रण

उत्तरी - पश्चिमी रुक्ष क्षेत्र की क्षारयुक्त जमीन का मानचित्रीकरण 1:250,000 पैमाने पर पूरा किया गया जो मृदा प्रवन्धन के लिये कारगर सावित होगा।

प्रदूषित जल से प्रभावित ज़मीन व कुओं का मूल्यांकन

राजस्थान सरकार के अनुरोध पर जोजरी, वाँडी तथा लूनी नदी के आस - पास के क्षेत्रों का विशेष अध्ययन कर जोधपुर, पाली और वालोतरा शहरों के रंगाई व छपाई कारखानों से

निकलने वाले प्रदूषित जल के विभिन्न भू-संसाधनों पर पड़ने वाले विपरीत प्रभावों का मूल्यांकन किया गया । कृषि भूमि, फसलों तथा उनकी पैदावार, वनस्पति तथा सतही व भूमिगत जल पर दुष्प्रभाव को आँका गया । इसके आधार पर इन प्रभावित संसाधनों को सुचारु रूप से सुधारा जा सकता है ।

पर्यावरण सुधार तथा प्रबन्ध तकनीकियों का विकास

पर्यावरण के विभिन्न क्षेत्रों को और अधिक बिगड़ने से रोकने के लिये कई नयी तकनीकों का विकास किया गया तथा प्रबन्धन के तरीके सुनिश्चित किये गये । इनमें से प्रमुख निम्न हैं :

- भूमिगत जल के स्रोतों का पता लगाने के लिये पुरातन अपवाहतंत्र का अध्ययन किया गया । लुप्त सरस्वती नदी सहित पश्चिमी राजस्थान के ऐसे कई पुरातन अपवाहतंत्र का पता किया गया तथा उनका मानचित्रण किया गया । इसके साथ ही नागौर जिले के भूमिगत जल संसाधनों का विशेष अध्ययन किया गया तथा वर्तमान स्थिति तथा संभावित जल के नये क्षेत्रों का मूल्यांकन किया गया
- विभिन्न सूत्रों से आंकड़े प्राप्त कर रुक्ष क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं को मानचित्रों के माध्यम से दिखाने के दृष्टिकोण से कई एटलस बनाई गयीं, जिनमें एग्रीकलचरल एटलस ऑफ राजस्थान, ग्राउण्ड वाटर एटलस ऑफ राजस्थान, एग्रो-डेमोग्राफिक एटलस, शीप-इकोलोजी तथा लूनी बेसिन के संसाधन एटलस प्रमुख हैं ।
- अधिक कार्बोनेट युक्त (तेलिया) पानी से सिंचित मृदाओं के जिप्सम द्वारा सुधार व प्रबन्ध के लिये बालोतरा, सिवाना, झंवर तथा डोली के क्षेत्रों में प्रयोग किये गये, जिसके काफी अच्छे व अनुकूल परिणाम मिले ।
- सरदार समन्द जलाशय के जलग्रहण क्षेत्र के जल संतुलन का विशेष अध्ययन किया गया इसके परिणाम यहां के भू-प्रबन्ध और कृषि विकास में सार्थक सिद्ध होगें ।
- भूमि के ह्रास तथा विभिन्न भूमि उपयोगों के उत्पादकता पर प्रभाव का भी अध्ययन किया गया । भूमि ह्रास के विभिन्न पहलुओं की तीव्रता को आँकने में भी सफलता मिली है । इसी प्रकार सुदूर संवेदन तकनीक द्वारा भूमि उपयोग में परिवर्तन का आकलन किया गया, जिससे एक समयावधि में एक क्षेत्र के भू-उपयोग के बदलाव को तय किया गया ।
- सन् 1985 के अकाल के दौरान भीषण आंधियों द्वारा रेत के फैलाव का विशेष अध्ययन जोधपुर, बाड़मेर, जैसलमेर, चुरू तथा बीकानेर जिलों में किया गया, जिससे रेत के फैलाव तथा अपरदन से मिट्टी के ह्रास को आंकने में सफलता मिली ।
- सन् 1979 की लूनी नदी की बाढ़ तथा सन् 1991 में अतिवृष्टि से जोधपुर, बाड़मेर, पाली, जालोर, तथा सिरोही जिलों में आयी बाढ़ का विशेष अध्ययन कर विभिन्न नुकसानों को आँका गया, जिसमें मृदा का ह्रास व जमाव, कृषि व फसलों पर प्रभाव, सिंचाई के कुंओं का ह्रास, नदी की धारा में परिवर्तन, तथा जलाशयों के नुकसान को आँका गया । इसके साथ ही लूनी व उनकी सहायक नदियों के प्रवाह की क्षमता को भी आंका जा सका ।

- जल तकनीकी मिशन के तहत टाँकों व नाडियों की डिजाइन में सुधार किया गया तथा विभिन्न क्षेत्रों में टाँकों व नाडियों का निर्माण किया गया । उपयोगिता के आधार पर विभिन्न क्षमता वाले टाँकों की नयी डिज़ाइनें तैयार की गयी, जो राज्य सरकार के विभिन्न विभाग विकास कार्य के लिये उपयोग में लाते हैं ।
- कायलाना क्षेत्र में प्रमुख पेड़ व झाड़ियों को संरक्षण प्रदान करके उनके पुर्नजीवन, बचाव, घनत्व तथा बायोमास के विकास की दर को रेखांकित करने के लिये प्रबोधन किया गया परिणाम स्वरूप कई विलुप्त होती वनस्पतियों को अबाध गति से विकसित होता हुआ पाया गया ।
- जोधपुर शहर के निकट बूजावड़ गाँव में मिट्टी की नमी का संचय करने के उद्देश्य से वानस्पतिक अवरोधों का निर्माण कर विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया गया । इससे विभिन्न फसलों तथा घासों की पैदावार पर अनुकूल असर पड़ा तथा वानस्पतिक अवरोध बहुत उपयोगी सिद्ध हुए ।
- बरना की चूने के पत्थर की खदानों तथा कवास की जिप्सम की खदानों द्वारा खराब की गयी भूमि के पुनर्स्थापन, विकास तथा प्रबन्धन का कार्य पूरा किया गया । यह कार्य भारत व अमरीका के संयुक्त कार्यक्रम के अन्तर्गत सम्पन्न किया गया ।
- भौगोलिक सूचना प्रणाली के कार्य स्थल की स्थापना की गयी । इससे विभिन्न प्रकार के आंकड़े, मानचित्रों तथा सुदूर संवेदन आंकड़ों का विभिन्न रूप में विश्लेषण, प्रबोधन तथा प्रबन्धन हो सकेगा ।

चित्र 1. मरुस्थल में सर्वत्र व्याप्त रेत के टीले

चित्र 2. स्थिरीकरण में सहायक वृक्ष

मरुस्थलीकरण

सामान्यतया, मरुस्थलीकरण से तात्पर्य मरुस्थल जैसी परिस्थितिकी के विस्तार से लिया जाता है। मरुस्थलीकरण पर विचार करने के लिए वर्ष 1977 मे नैरोवी तथा वर्ष 1992 में रिओ मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया गया। काफी विचार विमर्श के पश्चात् यह तय किया गया कि रुक्ष, अर्द्ध रुक्ष तथा शुष्क अर्द्ध आद्र क्षेत्रों में जलवायु परिवर्तन तथा मानवीय प्रक्रियाओं के फलस्वरूप भूमि संसाधनों की उत्पादकता में आने वाली कमी को मरुस्थलीकरण नाम दिया जाय। पश्चिमी राजस्थान मे मरुस्थलीकरण के विभिन्न आयामों का दृश्य इस अध्याय में प्रस्तुत किया जा रहा है।

मरुस्थलीकरण के कारण

- वढती जन व पशु संख्या : जनसंख्या की बढोतरी प्रारंभ मे बहुत धीमी थी। इसके पश्चात वर्ष 1921 से 1961 के वीच जनसंख्या दुगुनी हो गई तथा अगले तीस वर्षों मे फिर दुगनी हुई। वर्ष 1971-81 तथा 1981 से 91 के दशकों के वीच क्रमशः 30.6 तथा 30.1 प्रतिशत जनसंख्या वृद्धि हुई। वढी हुई जनसंख्या की आवश्यकता पूर्ति के लिए कृषि अयोग्य भूमि, जैसे कि रेत के टिव्बे, कम गहरी, कंकड़ वाली भूमि, ढलान वाले क्षेत्र तथा अत्यधिक कम वर्षा वाले क्षेत्र, जहां पर आसानी से खेती संभव नहीं है, वहां पर भी खेती होने लगी। इससे वातीय एवं जलीय क्षरण तेजी से होने लगा तथा पर्यावरण संबंधी समस्या वढने लगी।
- शुष्क जलवायुः- शुष्कता का प्रमुख कारण अपर्याप्त एवं असंतुलित वर्षा है। वाष्पन वाष्पोत्सर्जन की वार्षिक मात्रा 1700 से 2000 मि.मी. है, जो इस क्षेत्र की औसत वर्षा के अनुपात में बहुत अधिक है। वायुमण्डलीय तापक्रम का वार्षिक उच्चतम औसत 41.5° से 42° सै. तथा न्यूनतम 4.7° से 10.2° सै. तक है। मई व जून माह में प्रायः आँधियां व तेज हवाएं चलती हैं। वायु की औसत गति 18 से 28 कि.मी. प्रति घन्टा तक नापी गई है।
- मरुस्थलीकरण के लिए संवेदनशील परिस्थिकी :- इन क्षेत्रों मे मृदा प्रायः रेतीली है। रेत के टिव्वे तथा अन्तर्टिव्वा क्षेत्र 30.6 प्रतिशत भूभाग में तथा रेतीले टिव्वेदार मैदान 34.6 प्रतिशत क्षेत्र मे फैले हुए हैं। लगभग 5.9 प्रतिशत क्षेत्र में कठोर पटल वाली मृदाएं मिलती हैं। इन रेतीली मृदाओं में 30 से 50 से.मी. गहराई पर कठोर पटल मिलता है, जिसमें पौधों की जड़ें तथा जल प्रवेश नहीं कर सकते। प्राकृतिक लवणीय मृदाएं, चट्टान तथा कंकड़ अथवा जिप्सम युक्त मृदाएं 13.5 प्रतिशत क्षेत्र में मिलती हैं। ये मृदाएं सामान्यतया सघन खेती, सिंचाई तथा मशीनीकरण द्वारा अधिक उपज वढाने के लिए उपयुक्त नहीं हैं। शुष्क क्षेत्र में भूजल 300 - 400 फीट गहरा मिलता है तथा वह भी 80 प्रतिशत से अधिक मामलों में लवणीय एवं क्षारीय है। वनस्पति छितरी हुई तथा कांटेदार है। इन भंगुर प्राकृतिक संसाधनों का क्षमता से अधिक उपयोग किया जाता है तो मरुस्थलीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है।

काजरी मे पिछले पचास वर्षों से मरुस्थलीकरण प्रक्रिया को समझने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया गया है । सुदूर संवेदन तकनीक से प्राप्त चित्रों की सहायता से मरुस्थलीकरण से प्रभावित क्षेत्रों का मानचित्रण किया गया । इन प्रयासों से प्रभावित एवं संवेदनशील क्षेत्रों को चिन्हित किया गया, ताकि मरुस्थलीकरण प्रक्रिया के नियंत्रण से पर्यावरण सुधार कार्य संपादित किया जा सके ।

मरुस्थलीकरण के लक्षण

निम्न लक्षणों से मरुस्थलीकरण प्रसार का अनुमान लगाया जा सकता है:

- फसलों की पैदावार, चारागाहों मे घास एवं संरक्षित वन एवं ओरण में वनस्पति की उत्पादकता में कमी
- कुओं में जल स्तर की गहराई तथा पानी में लवणों की मात्रा में वृद्धि
- खेतों में रेत का जमाव व टिव्वियों का निर्माण
- सिंचित क्षेत्रों में क्षारीयता एवं लवणीयता की वृद्धि

मरुस्थलीकरण प्रक्रियाएं एवं इनकी तीव्रता

संस्थान द्वारा चार प्रकार की मरुस्थलीकरण प्रक्रियाओं का अध्ययन किया गया है । पश्चिमी राजस्थान में इन मरुस्थलीकरण प्रक्रियाओं का विस्तार से अध्ययन किया गया है । इस का विवरण निम्न प्रकार से है :

वातीय क्षरण/रेत का जमाव

गर्मियों में तेज हवा के कारण रेत के कण एक स्थान से उड़ कर अन्यत्र खेतों मे जमा हो जाते हैं । रेत के जमाव के कारण मिट्टी की उर्वरता तथा फसल उत्पादन में कमी आ जाती है । वातीय क्षरण एवं रेत के जमाव की प्रक्रिया 300 मि.मी. से कम वर्षा वाले क्षेत्रों में अधिक तीव्रता से होती है । पश्चिमी राजस्थान का लगभग 68.3 प्रतिशत भूभाग इस मरुस्थलीकरण प्रक्रिया से प्रभावित है । इन में से 20.6 प्रतिशत क्षेत्र अत्यधिक, 40.7 प्रतिशत क्षेत्र अधिक तथा 38.5 प्रतिशत क्षेत्र सामान्य मरुस्थलीकरण प्रक्रिया से प्रभावित है ।

लवणीयता, क्षारीयता एवं जलमग्नता

पश्चिमी राजस्थान में लवणीयता, क्षारीयता एवं जलमग्नता द्वारा मरुस्थलीकरण प्रक्रिया से 7.2 प्रतिशत भू-भाग प्रभावित है ।

लवणीयता : इस क्षेत्र में प्राकृतिक लवणीय मृदाएं मिलती हैं । यह भूभाग लवणों की अत्यधिक मात्रा (विद्युत चालकता 13 से 84 डे.सी./से.मी.) के कारण वनस्पति विहीन है । कहीं - कहीं पर विलायती वबूल तथा लवण सहन करने वाली वनस्पतियों से आच्छादित है । यह प्राकृतिक रूप से अवहासित है तथा लगभग 70,000 हैक्टेयर क्षेत्र में फैला हुआ है ।

क्षारीयता : अधिक कार्वोनेट (तैलीया) पानी से सिंचित मृदाओं मे क्षारीयता का प्रभाव बढ़ जाता है । कुछ वर्षों पश्चात् फसल की पैदावार में कमी आ जाती है तथा भूमि कृषि अयोग्य हो जाती है । लगभग 50,000 हैक्टेयर भूमि इस प्रकार से मरुस्थलीकरण के प्रभाव में आ चुकी है तथा समस्या बढ़ती जा रही है ।

लवणीय पानी से भी विस्तृत भूभाग में सिंचाई होती है । इससे मृदा में लवणों की मात्रा में वृद्धि होती है । इन स्थानों पर लवण सहन करने वाली फसलें, जैसे खारचीया गेहूं की ही खेती की जा सकती है ।

जलमग्नता : यह मरुस्थलीकरण प्रक्रिया मुख्य रूप से इन्दिरा गांधी नंहर से सिंचित क्षेत्रों तथा सरदार समन्द, हेमावास वांधो से सिंचित क्षेत्रों में.सीमित है । नहर से पानी का रिसाव तथा अत्यधिक पानी से सिंचाई इसके प्रमुख कारण हैं ।

जलीय क्षरण

छोटी पहाड़ियो के आस - पास, ढलान वाले क्षेत्रों में वर्षा के पानी द्वारा मृदा का जलीय क्षरण प्रायः होता है । सतही मिट्टी के वहाव से नालियां बन जाती है । इससे मृदा की उर्वरता तथा भूमि की उत्पादकता कम हो जाती है । यह समस्या 300 मि.मी. से अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में विकट है । पश्चिमी राजस्थान का 11.1 प्रतिशत भूभाग इस मरुस्थलीकरण प्रक्रिया से प्रभावित है ।

सम्मिलित मरुस्थलीकरण प्रक्रिया

मरुक्षेत्र का 7.2 प्रतिशत भू भाग एक से अधिक मरुस्थलीकरण प्रक्रियाओं यथा वातीय तथा जलीय क्षरण, जलीय क्षरण व लवणीयता आदि से ग्रस्त है ।

फसल उत्पादन

राजस्थान का मरु क्षेत्र फसल उत्पादन के लिहाज से अत्यन्त अस्थिर रहा है । मरु फसलों को विपरीत परिस्थितिया में बीजों के अंकुरण से लेकर पकने तक जूझना पड़ता है । बुवाई पश्चात् भूमि में नमी का त्वरित ह्रास व ऊपरी भूमि की कठोर पपड़ी के कारण कम अंकुरण यहां पर सामान्य प्रक्रिया है । इसके कारण छोटे दानों वाली फसलें वाजरा, ज्वार, तिल इत्यादि में प्रति इकाई पौधे कम हो जाने के कारण उपज में काफी गिरावट पायी जाती है । इसके साथ - साथ फसलों के पकते समय तेज वायु, अधिक तापक्रम तथा भूमि में कम होती नमी के कारण बीज छोटे, सिकुड़े व अविकसित रहने के कारण, फसल उत्पादन कम होता है । नत्रजन तत्वों का भूमि में कम पाया जाना व अधिक तापक्रम के कारण इन तत्वों का ह्रास होना भी कुछ ऐसी परिस्थितियां हैं, जो मरु कृषि की दयनीय स्थिति दर्शाती हैं ।

भूमि का खारापन, औद्योगिक इकाइयों से निकलने वाला दूषित पानी, कम वर्षा के कारण लवणों का उपयुक्त निकास न होना, खारे पानी से वार - बार सिंचाई करने से भूमि में खारेपन का बढ़ना, नहरी क्षेत्र में पानी का पड़ा रहना आदि सिंचित क्षेत्र की मुख्य समस्याएं हैं । इसी प्रकार रबी फसलों की जमाव विन्दु के तापक्रम तक बुवाई व तेजी से बढ़ते तापक्रम में कटाई भी फसल उत्पादन पर विपरीत प्रभाव डालते हैं । मरु फसलों के विकास व उनके अनुकूलन का एक लम्बा इतिहास रहा है । आनुवांशिक प्रकृति में लचीलापन व स्थायित्व में प्रचुरता के कारण ये फसलें विपरीत परिस्थितियों को सहने की अद्‌भुत क्षमता रखती हैं । राजस्थान के मरु क्षेत्र में उगाई जाने वाली लगभग सभी फसलों में सूखे के प्रति सहनशक्ति होती है । परन्तु ये क्षमता फसलों की वृद्धि अवस्था के साथ कम -अधिक पायी जाती है । बाजरा, ग्वार, मूंग, मोठ, तिल इत्यादि फसलें विशेष रूप से सूखे के प्रति सहनशक्ति रखती हैं । मूंग व बाजरा छोटे फसल - चक्र होने के कारण सहनशील पायी गई हैं, जबकि मोठ अंकुरण से लेकर पकने तक सहनशील है । ग्वार लम्बा फसल चक्र होने के वावजूद सूखे को सहन कर लेने की अद्‌भुत क्षमता रखती है ।

आनुवंशिकी सुधार

दलहनी, तिलहनी व मोटे धान्य फसलों का क्रमशः 92 प्रतिशत, 86 प्रतिशत व 75 प्रतिशत उत्पादन शुष्क क्षेत्रों से प्राप्त होता है । अतः राष्ट्रीय फसल उत्पादन में वृद्धि के लिए इन फसलों का अनुवांशिक सुधार आवश्यक है । फसल सुधार कार्यक्रम से मरु भूमि में भी लगभग 15 से 20 प्रतिशत उपज वृद्धि की जा सकती है । आनुवांशिक सुधार अनुसंधान निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए किए गये

- जल्दी पकने वाली किस्मों का विकास - जो वर्षा ऋतु में ही पक कर तैयार हो जायें
- अधिक उत्पादन व शुष्कता के प्रति सहनशीलता की प्रवल क्षमता का विकास
- मुख्य वीमारियों के प्रति अवरोधक क्षमता

- पौधों के आकार व स्वरूप में सुधार
- मिश्रित व अन्तर फसल पद्धति के लिए उपयुक्त किस्मों का विकास

मोठ

यह फसल चारा व हरी घास के अलावा खाने के अनेक व्यंजनों के वास्ते समतल व रेतीले टीबों पर प्रमुखता से उगाई जाती है । मोठ सुधार के कार्यक्रम में जल्दी पकने व सीधी बढ़ने वाली, जल्दी पकने व कम फैलावदार किस्मों को चयनित किया गया है । मोठ की नई किस्में लगभग 60 से 65 दिनो में पक जाती हैं, सीधी बढ़ती है तथा इनकी उपज की क्षमता भी लगभग दुगुनी है । 1989 में केन्द्रीय किस्म चयन समिति द्वारा संस्तुत किस्म मरु मोठ -1, ज्वाला किस्म के मुकाबले लगभग 21.4 प्रतिशत अधिक उत्पादन देने की क्षमता रखती है । मोठ की अन्य किस्में जो रेगिस्तानी क्षेत्र के लिये उपयुक्त पायी गईं, निम्न हैं :

- कम फैलावदार व मध्यम पकाव वाली : *ज्वाला, जड़िया* आदि
- मध्यम व देरी से पकने वाली : *आई पी सी एम ओ 800, टी-18, सी जेड एम-78* आदि
- जल्दी पकने व सीधी बढ़ने वाली : *आर एम ओ-40, आर एम ओ-257, सी जेड एम-99, सी जेड एम-15*

मूंग

यह फसल कम व देरी से होने वाली वर्षा की स्थिति में बहुत उपयुक्त पायी गई है । राजस्थान में मूंग की खेती (4.15लाख हैक्टेयर) का लगभग 76 प्रतिशत क्षेत्रफल रेगिस्तानी भूमि में निहित होने के कारण यह अग्रणी दलहन मानी जाती है । यह अन्तर्फसल पद्धति के लिए भी उपयुक्त है । काजरी में वर्षा पर निर्भर मूंग की विभिन्न किस्मों का मूल्यांकन किया गया है । इन किस्मों में *के-851* सबसे उपयुक्त पायी गई, जो 10 से 12 क्विंटल प्रति हैक्टेयर उपज देने की क्षमता के साथ ग्रीष्म ऋतु के लिए भी उपयुक्त रहती है । *एस-8* मुख्य रूप से सरकोस्पोरा पत्ती धब्बा बीमारी के प्रति रोधकता रखती है । *आर एस-4* अधिकतर बीमारियों पत्तीशिरा मोज़ेक, सरकोस्पोरा पत्ती धब्बा के प्रति विशेष रूप से रोधक पायी गई है । *एस-9* देरी से बोने की स्थिति के लिये उपयुक्त रहती है ।

चंवला

चंवला की राजस्थान में कुल खेती (89.7 हजार हैक्टेयर) का लगभग 72.37 प्रतिशत क्षेत्र पश्चिमी राजस्थान के 22 जिलों में केन्द्रित है । यह फसल लगभग 60-65 दिनों में पकने के कारण शुष्क अवस्था में अच्छी प्रकार से उगाई जा सकती है । चंवला में मुख्य रूप से कम फैलावदार व सीधी वृद्धि वाली किस्मों की आवश्यकता है । चंवला के जननद्रव्यों को एकत्रित करके वर्षा ऋतु में मूल्यांकन किया गया । उत्परिवर्तन विधि द्वारा भी किस्मों को सुधारने का कार्य काजरी में किया गया है । मूल्यांकन द्वारा निम्नलिखित किस्में उपयुक्त पायी गई:

चरोड़ी : 60-65 दिनों में पकने वाली यह किस्म लगभग 8 से 9 क्विं. प्रति हैक्टेयर पैदावार देने की क्षमता रखती है । वाजरा के साथ अन्तर फसल पद्धति के लिए यह किस्म अनुकूल पायी गई । *एफ एस-68* किस्म फलियों के झड़ान तथा उत्तीशिरा मोज़ेक के प्रति सहनशील पायी गई । *आर सी-19* में लवणता के प्रति कुछ सहनशीलता की क्षमता होने के साथ सारी फलियां एक साथ पकती हैं । यह अच्छी उपज (20 से 22 क्विं./है.) देने की क्षमता रखती है । *चरोड़ी* किस्म के बादामी रंग के बीजों को सफेद करने के वारे में भी अनुसंधान चल रहे हैं । कुछ सफेद उत्पजरिवर्ती विकसित किये गये हैं, जिनका मूल्यांकन अन्तिम दौर में है ।

ग्वार

भारत में उत्पादित ग्वार का लगभग 70 प्रतिशत क्षेत्र (21.8 लाख हैक्टेयर) राजस्थान में होने के कारण इस फसल का महत्व यहां और भी वढ़ जाता है । ग्वार की फसल दूसरी दलहनों के मुकावले में पकने में अधिक समय लेती है, तथा इसकी वृद्धि भी धीरे - धीरे होती है । किस्म सुधार कार्यक्रम के अंतर्गत कुछ अच्छी किस्मों का चयन किया गया है । प्रजनन द्वारा भी उन्नत किस्में विकसित की गई हैं तथा जननद्रव्य को एकत्रित करके उसका मूल्यांकन किया गया है । कुछ अच्छी व उन्नत किस्में निम्न है :-

- शाखाओं सहित मध्यम समय में पकने वाली : *जी-1*, व *एच जी- 75*
- शाखाओं सहित व जल्दी पकने वाली : *सुविधा, नवीन* अगेती बुवाई के लिए उपयुक्त है
- एक तने वाली शाखाओं रहित : *एफ एस-277, पी एल जी-85* व *एच एफ जी-314* ये किस्में अन्तर फसल पद्धति के वास्ते बाजरा व धामन घास के साथ उपयुक्त हैं ।
- देरी से बुवाई के लिये उपयुक्त : *दुर्गापुरा सफेद, मरु ग्वार* जो दूसरी किस्मों से 5 से 10 प्रतिशत अधिक उपज देने की क्षमता रखती है । इसका काजरी द्वारा विकास व केन्द्रीय किस्म चयन समिति द्वारा 1988 में संस्तुति करना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है ।

तिलहनी फसलें

तिल

यह शुष्क क्षेत्रों की प्राचीन व महत्वपूर्ण फसल है । राजस्थान में तिल की खेती मुख्य रूप से पश्चिमी राजस्थान के वारह जिलों में लगभग 3.85 लाख हैक्टेयर में की जाती है । तिल की किस्में शाखादार व बिना शाखा वाली होती हैं । इन सभी प्रकार की तिल की किस्मों का वर्षा ऋतु में मूल्यांकन किया गया है । निम्नलिखित किस्में अच्छी पायी गई :

प्रताप : सीधे बढ़नें वाली व शाखा रहित यह किस्म, जिसकी अन्तरगांठ पर 6 से 8 फलियाँ लगती हैं, भारी मिट्टी के लिए उपयुक्त है । यह सफेद दानों वाली किस्म है । *टी सी -25*, जो अपेक्षाकृत जल्दी (80-85 दिनों में) पकती है, हल्की रेतीली भूमि के लिए उपयुक्त पायी गई है । इन किस्मों के अलावा *आर टी -46* उजिग बीमारी के लिए रोधक तथा *एच टी-24* एवं *टी सी-*

171 किस्में मरु भूमि के लिए उपयुक्त पायी गई हैं । *टी सी-171* सबसे अधिक स्थिर किस्म के रूप में सामने आई है ।

अरंडी

राजस्थान के मरु ज़िलों में हालांकि अरंडी का क्षेत्र काफी कम है, परन्तु इसके वहुउद्देशीय होने व सूखे के प्रति सहनशीलता के कारण बुवाई क्षेत्र वढ़ने की आशा है । अरंडी की अग्रलिखित किस्में शुष्क क्षेत्र के लिए उपयुक्त पायी गई हैं :- *अरुणा, जी एच-3, जी सी एच-2* एवं *जी सी एच-4* ।

सूरजमुखी

सूरजमुखी सूखे तथा तापक्रम के प्रति सहनशील होने के कारण राजस्थान तथा मरु क्षेत्रों में धीरे-धीरे अपना स्थान बना रही है । लगभग 250 से 300 मि.मी. की वर्षा में यह फसल सफलतापूर्वक उगाई जा सकती है । देरी से मानसून आने की स्थिति में भी सूरजमुखी उपयुक्त पायी गई है । तीन वर्षों के वर्षा पर निर्भर मूल्यांकन के पश्चात् निम्नलिखित किस्में इस क्षेत्र व जलवायु के लिए उपयुक्त पायी गई : *ई सी-68414, बी एस एच-1* तथा *ई सी-69874* ।

मूंगफली

राजस्थान में मूंगफली का क्षेत्र लगभग 2.5 लाख हैक्टेयर है । 400 मिलीमीटर वर्षा की स्थिति में *ए के 12-24, गंगापुरी* किस्मों ने लगभग 11 क्विं प्रति हैक्टेयर पैदावार दी है, जबकि *जी एल-24* व *जी-201* किस्में 350 मि.मी. वर्षा की स्थिति में 4-5 क्विं प्रति हैक्टेयर उपज देने की क्षमता रखती हैं ।

बाजरा

राजस्थान में वाजरा की खेती लगभग 42.6 लाख हैक्टेयर क्षेत्र में की जाती है, जिसका लगभग 80 प्रतिशत क्षेत्र (35.0 लाख हैक्टेयर) पश्चिमी राजस्थान में केन्द्रित है किन्तु शुष्क क्षेत्र की वर्तमान उत्पादकता (161 कि.ग्रा.प्रति हैक्टेयर) भारत की औसत उत्पादकता (527 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर) से काफी कम है । बाजरा में किस्म सुधार का कार्य समस्त भारत में बाजरा सुधार समन्वित योजना के तहत् 1968-69 में शुरु किया गया था । इसके अन्तर्गत जननद्रव्य का संकलन, किस्मों का विकास, अंतःप्रजनन व नर नपुंसक लाइनों के चयन इत्यादि पर विशेष ज़ोर दिया गया है । शुष्क क्षेत्रों के लिए उपयुक्त कुछ किस्मों का वर्णन इस प्रकार है :

एच बी-3, एच बी-4, एच बी-5, एम एच-179, एच एच बी-67, सी जेड पी-9401, सी जेड आई सी-923 तथा *राज-171* । *एम एच-179* लम्बे कद की देरी से पकने वाली संकर किस्म है, जबकि *एच एच बी-67* एक जल्दी पकने वाली (60-62 दिन) शुष्क क्षेत्रों के लिए उपयुक्त किस्म है । *राज-171* वाजरा के सभी क्षेत्रों के लिए उपयुक्त पायी गई है । यह लम्वी किस्म देरी से पकने के साथ मृदु रोमिल बीमारी के प्रति रोधकता रखती है । काजरी व इक्रीसेट हैदराबाद के सम्मिलित प्रयासों द्वारा

विकसित नई किस्म *सी जेड आई सी-923*, जो 1996 में कृषि मंत्रालय द्वारा सूचित की गई, अच्छी उपज (20-22 क्विं प्रति हैक्टेयर) देने की क्षमता रखती है तथा मृदु रोमिल व कंडवा रोधक भी है ।

तनाव कार्यिकी

जल तनाव

जल तनाव या जल की कमी का पौधों की वृद्धि, उपज, आवश्यक तत्वों के अवशोषण तथा पौधों के विभिन्न आन्तरिक कार्यो पर प्रभाव पड़ता है । इसके साथ अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि पौधों में विभिन्न वृद्धि अवस्थाओं पर शुष्कता का प्रभाव भी अलग - अलग होता है । ग्वार व तिल में फूल आने की अवस्था में तथा बाजरा में सिट्टा आने से पूर्व की अवस्था पर जल तनाव का भारी प्रतिकूल असर देखने में आया है । अतः इन अवस्थाओं पर सिंचाई देने पर उपज में बढ़ोतरी की जा सकती है । उचित मात्रा में उर्वरक देने से पौधे की वृद्धि तेजी से होने व आवश्यक तत्वों का जमीन से अवशोषण बढ़ने के कारण शुष्कता जनित विपरीत असर को कम किया जा सकता है ।

कम वर्षा की स्थिति में कतारों से कतारों की अधिक दूरी (50-75 सें.मी.) व कतारों में पौधे से पौधे की दूरी बढ़ाने पर भी शुष्कता के प्रभाव को कम करते हुए उपज में बढ़ोतरी की जा सकती है । बाजरा में लगभग 1,50,000 पौधे प्रति हैक्टेयर, अधिकतम उपज प्राप्त करने के लिए उपयुक्त पाये गये हैं ।

मरु क्षेत्रों में वर्षा की विभिन्नता होने के वावज़ूद बाजरा की संकर किस्में *एम एच-79* व *सी जेड एच-859* कम्पोज़िट किस्मों *डब्ल्यू सी सी -75* के मुकावले अच्छी उपज देने की क्षमता रखती हैं । जल्दी व देरी से पकने वाली ग्वार व मोठ की किस्मों के विभिन्न व्यवहार के कारण, मरु भूमि में उत्पादन बढ़ाने के लिए इन किस्मों को । : । के अनुपात में एक - एक पंक्ति या मिश्रण में वोने की सिफारिश की जाती है ।

ग्वार की फसल में 25-50 प्रतिशत प्रकाश की कमी के कारण पानी के वाष्पोत्सर्जन तथा पत्तियों के हरित पदार्थ, प्रोटीन व अमीनो अम्लों की मात्रा में कमी दर्ज की गई । 25° से. पर एन आर व जी डी एच ऐन्ज़ाइम की गतिविधियों तथा उपज में वृद्धि पायी गई है । मोठ में प्रकाश की कमी या परछाई बढ़ने पर पौधों की वृद्धि व उपज पर प्रतिकूल प्रभाव दर्ज किये गये हैं ।

सिंचित फसलें

राया

भारत वर्ष के कुल क्षेत्र (63.5 लाख है.) का लगभग 35 प्रतिशत (22.3 लाख है.) राजस्थान में तथा राजस्थान का लगभग 27 प्रतिशत राया का क्षेत्र पश्चिमी राजस्थान में होने के कारण यह फसल यहां बहुत महत्वपूर्ण मानी जाती है । राया में सीमित सिंचाई व खारे पानी के

प्रयोग के बारे में अनुसंधान किया गया है । सीमित व खारे पानी के प्रति सहनशील किस्मों का चयन भी किया गया है ।

सीमित सिंचाई (3-4 सिंचाइयां, प्रत्येक 6 सें.मी. की दर से) की स्थिति में: *टी-59, टी एम-4, आर एल एम- 198, पूसा बोल्ड, आर के- 8501* व *एन डी आर- 8501* किस्में अच्छी पायी गई है । ये किस्में 16 से 20 क्विंटल प्रति हैक्टेयर पैदावार देने की क्षमता रखती है । *पूसा बोल्ड* व *एन- डी आर- 8501*, पीले दानों के कारण मरु क्षेत्रों में विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं ।

तारामीरा

सिर्फ एक सिंचाई पलेवा के रूप में देने से *आर टी एम-52* किस्म से 5-6 क्विं/हैक्टेयर पैदावार प्राप्त की जा सकती है । तारामीरा को अक्टूबर के प्रथम सप्ताह से नवम्बर के मध्य तक सफलतापूर्वक बोया जा सकता है ।

लवणीय पानी

सिंचाई के काम में आने वाला पानी राजस्थान में लगभग 60 प्रतिशत व पश्चिमी राजस्थान में लगभग 84 प्रतिशत लवणीय या क्षारीय है, जिसके प्रभाव से फसल उत्पादन में गिरावट आती है । ऐसे पानी के सदुपयोग के लिए विभिन्न अनुसंधान व प्रयोग किये गये है ।

सहनशील फसलें

गेहूं, जौ व कुसुम की फसलें लवणीयता को सहन करने की क्षमता रखती हैं । कुसुम बीजों के जमाव के समय सूक्ष्मग्राही पायी गयी है, परन्तु उसके बाद लवणीयता को सहन करने की अद्‌भुत क्षमता रखती है । राया की फसल भी बीजों के जमाव के समय काफी हद तक सूक्ष्मग्राही पायी गई है, परन्तु फूलों के आने की अवधि के बाद लवणता का हानिकारक प्रभाव लगभग नगण्य रह जाता है । तिल व मूंगफली की फसलें बीजों के जमाव से लेकर पकने तक की अवधि में लवणता के प्रति सूक्ष्मग्राही पायी गई हैं । ज्वार की फसल बाजरे के मुकाबले में अधिक सहनशील होती है ।

भूमि की उर्वरता

नत्रजन उर्वरक व देसी खाद :- मरु भूमि में वर्षा पर निर्भरता की स्थिति में मेंगनी की खाद लगातार प्रयोग करने से यूरिया उर्वरक की तुलना में बाजरा की उपज में महत्वपूर्ण बढ़ोतरी दर्ज की गई है । रासायनिक उर्वरकों के साथ देने पर उपज में गुणात्मक वृद्धि होती है । देसी खाद नत्रजन उर्वरक की क्षमता बढ़ाता है तथा भूमि की उर्वरकता शक्ति भी धीरे - धीरे बढ़ती है ।

मरु भूमि में स्थानीय खरपतवार के मल्चिंग से भूमि में नमी की मात्रा 3.7 से बढ़कर 4.8 प्रतिशत तक बढ़ाई जा सकती है । निराई-गुड़ाई न करने की स्थिति में यह क्रिया अधिक कार्यशील पायी गई है । प्रयोगों से यह भी सिद्ध हो चुका है कि ऐसा करने पर बाजरा व चंवला के खेत में

10 सें.मी. की गहराई पर तापक्रम में 1.6 डिग्री सें. की गिरावट आती है । इसका कारण खरपूतवार या फसलों के बचे कुछ भागों का जल्दी से सड़ना व सूक्ष्मजीवों की गतिविधि का तेज होना है । इस प्रकार पौधों के बचे हुऐ हिस्सें कार्बनिक खाद का महत्वपूर्ण स्रोत बन जाते हैं ।

दलहन - आधारित फसल चक्र

मरु जलवायु में अधिक उत्पादन के लिये दलहनी फसलों को फसल चक्र में शामिल करना नितांत आवश्यक है । फसल चक्र में दलहन विशेषकर ग्वार को शामिल करने पर बाजरा की पैदावार में लगातार बाजरा फसल चक्र के मुकाबले 29-65 प्रतिशत वृध्दि पायी गई ।

बारानी खेती के लिए उपयुक्त फसल उत्पादन प्रणालियाँ

एक ही खेत में लगातार बाजरा की खेती करने से उत्पादन कम होता है और भूमि की उर्वरा शक्ति में भी कमी आती है । इसके स्थान पर संकर बाजरे और ग्वार का फसल चक्र अपनाने पर उत्पादन में 11 प्रतिशत की वृध्दि प्राप्त हुई । हर दूसरे वर्ष प्रति हैक्टेयर 26 किलों फास्फेट का उपयोग करने पर उत्पादन में 36 प्रतिशत की वृध्दि हुई । फसल चक्र में बाजरा के बाद अन्य दूसरी दलहनी फसल जैसे :- लोबिया, मूंग व मोठ भी लिये जा सकते हैं । जिस साल वर्षा अच्छी होती है (500 मि.मी. से ज्यादा) व देर से खत्म होती है, तो ऐसी हालत में यहां पर दो फसल लेना भी संभव पाया गया है । बाजरा के बाद सरसों या चना, मृदा में संरक्षित नमी पर उगाया जा सकता है ।

फसल प्रणाली में बाजरा के अलावा बहुवर्षीय घास जैसे अंजन, अरंडी, ग्वार, मूंग, मोठ आदि को शामिल करने से पैदावार में अस्थिरता कम की जा सकती है । अंतरा शस्य प्रणालियाँ जैसे अंजन व ग्वार, अंजन व मूंग, बाजरा व मूंग, बाजरा व ग्वार, अंरडी व मोठ चारा आदि न केवल उत्पादन को ही स्थिरता प्रदान करते है, अपितु ये प्रणालियाँ भूमि व नमी का बेहतर उपयोग करती हैं और ज्यादा फायदेमंद पायी गई हैं । अंतरा शस्य प्रणाली में मुख्य फसल व अंतरा फसल को उगाने की कई विधियाँ हो सकती है जैसे एक - एक पंक्ति में, मुख्य फसल की दो पंक्तियाँ के बीच अंतरा फसल की एक या दो पंक्तियाँ उगाना या दोनों फसलों को 4 - 4 पंक्तियों की पट्टियों में बोना । इस प्रणाली में मुख्य फसल की पैदावार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है और सहायक फसल की अतिरिक्त उपज प्राप्त हो जाती है ।

फसल की बुवाई व स्थापन

किसान आम तौर पर सभी फसलें 25 - 30 सें.मी. दूरी की पंक्तियों में बोते है । यह पाया गया है कि 45, 50 व 60 सें.मी. पंक्ति से पंक्ति की दूरी बाजरा के लिए व 30 से 60 सें.मी. की दूरी दलहन व तिलहन फसलों में रखने पर उपज लगभग एक जैसी ही प्राप्त होती है । अतः पंक्ति से पंक्ति की दूरी 55 - 60 सें.मी. रखने से पैदावार भी सही मिलती है व कल्टीवेटर से निराई - गुड़ाई करना भी संभव होता है, जो कम दूरी की पंक्तियों में संभव नहीं है । अन्य परीक्षणों से पता चला है कि बाजरा को 50 सें.मी. दूरी की कतारों में बोने की बजाय दोहरी पंक्ति

प्रणाली 30/70 सें.मी. में बोया जाए तो पैदावार 9 से 22 प्रतिशत तक बढ़ाई जा सकती है । इसका कारण दोहरी पंक्तियों में बेहतर शस्य - जलवायु होना, मृदा नमी का बेहतर उपयोग व खरपतवार पर नियंत्रण रहना माना गया है ।

मृदा पपड़ी पर नियंत्रण

मरु क्षेत्र की मृदाओं में बुवाई के बाद हल्की वर्षा हो जाने पर मृदा-पपड़ी बनने की आम समस्या है, जिससे फसलों का, खासकर बाजरा का अंकुरण काफी कम हो पाता है । इस कारण पौधों की पर्याप्त संख्या प्राप्त नहीं होती और उपज काफी कम हो जाती है । उगते हुए पौधों के प्रति मृदा-पपड़ी का अवरोध कम करने के लिए काजरी ने कुछ तकनीकें विकसित की हैं ।

बुवाई के बाद पंक्तियों पर देसी खाद डालने से मृदा पपड़ी की मजबूती कम होती है, जिससे बाजरा जैसी फसल का अंकुरण अच्छा रहता है । बाजरा की फसल को दलहनी फसलों, जैसे मूंग आदि मिलाकर बोने से फसल का जमाव अच्छा पाया गया ।

खरपतवार नियंत्रण

खरपतवार नियन्त्रण यांत्रिक साधनों से या खरपतवार नाशक दवाओं के प्रयोग से किया जा सकता है । यह देखा गया है कि फसल की पंक्तियों में ज्यादा घास उगा हो तो खरपतवार नाशक अधिक उपयुक्त रहते हैं, क्योंकि इन्हें यांत्रिक तरीकों से हटाना काफी मुश्किल होता है । पोषक तत्वों का भी तभी भरपूर फायदा उठाया जा सकता है, जब खरपतवार पर उचित नियन्त्रण कर लिया गया हो । अगर बुवाई से पहले एक प्रारम्भिक जुताई कर दी जाए तो खरपतवारों पर नियन्त्रण रहता है और पैदावार भी ज्यादा मिलती है ।

सारणी : प्रारम्भिक जुताई का खरपतवार की संख्या व बाजरे की उपज पर प्रभाव

(बुवाई के 18 दिन बाद)

जुताई की स्थिति	*उपज प्रति है. (कि.ग्रा.)*	*खरपतवार की संख्या (प्रति वर्ग मीटर)*
बिना जुताई के बुवाई	*506*	*208*
एक जुताई के बाद बुवाई	*808*	*56*

जुताई की उचित संख्या व विधि मृदा संरचना पर निर्भर करती है । बलुई मिट्टी में भारी मिट्टी की अपेक्षा कम जुताई पर्याप्त रहती है । जिन खेतों में मोथा (साइपेरस रोटंडस) का प्रकोप हो, वहां मिट्टी पलट हल से जुताई काफी प्रभावशाली पायी गई है । इस क्षेत्र के लिए 2-3 साल

में एक बार गहरी जुताई करना भी नमी संरक्षण, कीट-व्याधि नियन्त्रण व अधिक पैदावार के लिए लाभदायक रहता है ।

वायु क्षरण की रोकथाम

अप्रेल से जून तक हवा की गति तीव्र होने से बलुई मिट्टी का अपरदन काफी होता है । इसकी रोकथाम के लिए वायुरोधक पट्टियां बनाना तथा फसलों के ठूंठ खेत में छोड़ना उपयोगी पाये गये हैं । वायुरोधन हेतु कृषि प्रणाली में 30 मीटर चौड़ी फसल की व 5 मीटर चौड़ी सेवन घास की पट्टियाँ वायु की विपरीत दिशा में उगाई गई । इस पद्धति से वायु अपरदन रोकने में काफी सहायता मिली, तथा बाजरा व मूंग की उपज में भी क्रमशः 6 व 17 प्रतिशत की वृद्धि हुई ।

एक अन्य प्रयोग में यह पाया गया कि बाजरे की कटाई के समय इसे जमीन के पास से काटने की बजाय 30- 45 सें.मी. ऊंचाई से काटा जाए, तो वायु अपरदन काफी कम हो जाता है । इससे बाजरे की आगामी फसल की उपज में लगभग 3-11 प्रतिशत की वृद्धि भी हुई । यद्यपि उपज में यह वृद्धि बहुत ज्यादा नहीं है, पर मृदा संरक्षण में ठूंठों की उपयोगिता सिद्ध होती है ।

मृदा - उर्वरता प्रबन्धन

रुक्ष क्षेत्र की मृदाओं में फसलों के लिए केवल पानी की ही कमी नहीं होती, अपितु इनकी उर्वरा शक्ति भी काफी कम है । यहां की मृदाओं में जीवांश पदार्थ भी काफी कम (0.1 - 0.25 प्रतिशत) पाया जाता है । इसलिए अच्छी पैदावार लेने के लिए उचित मृदा प्रबंधन आवश्यक है । इस दिशा में काफी अनुसंधान किया गया है ।

जैव उर्वरकों का प्रयोग

वर्षा की अनिश्चितता के कारण किसान आम तौर पर रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग नहीं करते, जबकि यहां की मृदाओं में नत्रजन की विशेष कमी है । ऐसी स्थिति में नत्रजन स्थिरीकरण करने वाले जैव उर्वरको का प्रयोग फायदेमंद पाया गया है । बाजरा में *एजोस्पाइरिलस ब्रेसीलेंस* का प्रयोग करके 39.4 प्रतिशत तक अधिक उपज प्राप्त की गई । एक अन्य प्रयोग में यह पाया गया कि अकेले एज़ोस्पाइरीलम के टीके का प्रयोग करके 13 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर नाइट्रोजन उर्वरक के प्रयोग जितनी पैदावार प्राप्त की जा सकती है । पर जब रासायनिक उर्वरकों का भी साथ - साथ प्रयोग किया जाता है, तो एज़ोस्पाइरीलम से कोई अतिरिक्त लाभ नहीं मिलता है । इसलिए इसका प्रयोग तभी करना चाहिए जब नाइट्रोजन वाली रासायनिक खाद किसान नहीं देना चाहें ।

दलहनी फसलों में राइजोबियम का टीका काफी लाभदायक पाया गया है । यह देखा गया कि मूंग में राइजोबियम का टीका लगाने से पैदावार में 51 प्रतिशत तक वृद्धि होती है । उपज में इतनी वृद्धि न तो प्रति हैक्टेयर 20 कि.ग्रा. नाइट्रोजन, न 30 कि.ग्रा. फासफोरस और न ही दोनों को साथ - साथ मिलाकर देने पर भी प्राप्त हुई ।

उर्वरकों का प्रयोग

इस क्षेत्र में रासायनिक खाद का प्रयोग काफी कम है । असिंचित क्षेत्रों में तो न के बराबर है । इसका कारण यह धारणा है कि सूखे के समय ज़मीन में नमी की मात्रा कम रहती है, जिससे रासायनिक खाद का प्रयोग करने पर फसल जल जाती है किन्तु इस भावना के पीछे कोई तथ्य नहीं है । और केवल भयानक सूखे के वर्षो को छोड़कर बाजरा में औसत से कम वर्षा वाले सालों में भी नत्रजन का प्रयोग लाभदायक रहता है । बाजरा की नत्रजन उर्वरक के प्रति प्रतिक्रिया कई बातों पर निर्भर करती है, जैसे किस्म, औसत वर्षा आदि । देसी किस्मों के लिए 23 कि.ग्रा. नत्रजन प्रति हैक्टेयर से लगाकर उन्नत किस्मों के लिए 85 कि.ग्रा. तक की मात्रा उचित पायी गई । उर्वरकों की कम उपलब्धता को देखते हुए नत्रजन की व्यवहारिक मात्रा की गणना भी की गई है । उर्वरकों के संतुलित उपयोग पर भी अध्ययन किया गया है । यह पाया गया कि अकेले नत्रजन की बजाए, नत्रजन व फोस्फोरस का संयुक्त प्रयोग ज्यादा पैदावार देता है । बाजरा की अधिकतम पैदावार के लिए 60 कि.ग्रा. नत्रजन, 30 कि.ग्रा. फास्फोरस व 15 कि.ग्रा. पोटाश का प्रयोग प्रति हैक्टेयर उपयुक्त पाया गया । सूक्ष्म पोषक तत्वों के प्रयोग से भी बाजरा की पैदावार में वृद्धि होती देखी गई । लोहा, जस्ता व मैगनिशियम के प्रयोग से उपज में 13 - 21 प्रतिशत की वृद्धि हुई । सूक्ष्म पोषक तत्वों का लाभ ज्यादा या सामान्य वर्षा की बजाए कम वर्षा वाले सालों में अधिक पाया गया ।

नत्रजन उर्वरकों का प्रभाव न केवल मात्रा, अपितु उर्वरक देने का समय व विधि पर भी निर्भर करता है । यह पाया गया कि 20 कि.ग्रा. नत्रजन बाजरा की बुवाई के समय व 20 कि.ग्रा. बुवाई के 3 - 4 सप्ताह बाद देने से उतनी ही उपज मिलती है, जितनी 80 कि.ग्रा. नत्रजन बुवाई के समय देने से मिलती है । नत्रजन उर्वरको को 3 - 4 बार में विभाजित करके देना अधिक लाभदायक पाया गया है । अगर बाद में मृदा में नमी की कमी हो तो 1/3 मात्रा का छिड़काव किया जा सकता है । अधिक सूखे की हालत में उर्वरक की दूसरी किस्त को रोक भी सकते हैं ।

अंतरा शस्य प्रणाली में भी नत्रजन के प्रयोग पर परीक्षण किए गए है । बाजरा - मूंग व बाजरा - ग्वार प्रणाली में नत्रजन की कम मात्रा (30 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर) अगर बाजरा को दी जाए तो दोनों ही फसलों की अच्छी पैदावार प्राप्त की जा सकती है । अधिक नत्रजन (60 कि.ग्रा. या 90 कि.ग्रा.) के प्रयोग से यद्यपि बाजरा की उपज बढ़ती है, पर अंतरा शस्य की उपज काफी कम हो जाती है, जिससे अंतरा शस्य प्रणाली का लाभ कम हो जाता है ।

फसल चक्र में उर्वरक प्रयोग से पता चला कि बाजरा - गेंहू चक्र में दोनों फसलों को खाद या फॉस्फोरस देने की आवश्यकता नहीं होती । गेहूं की फसल में 26 कि.ग्रा. फॉस्फोरस व 120 कि.ग्रा. नत्रजन प्रति हैक्टेयर की दर से देने के बाद बाजरा की फसल को केवल नत्रजन 60 कि.ग्रा./है. देना ही प्रर्याप्त रहता है । दो या चार साल के फसल चक्रों में, जहां बाजरा व दलहन फसल को बदल कर उगाते हैं, दोनों फसलों में फॉस्फोरस देने की आवश्यकता नहीं होती । दो साल में एक बार दलहन की फसल को 26 कि.ग्रा. फॉस्फोरस देना ज्यादा फायदेमंद पाया गया, वजाए बाजरा की फसल में फॉस्फोरस देने के । इसी तरह मूंग - बाजरा चक्र में मूंग की फसल को फॉस्फोरस व बाजरा की फसल को नत्रजन धारी उर्वरक देने से अधिक पैदावार प्राप्त हुई ।

वर्षो के अनुसंधान के बाद अब यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो चुकी है कि खरीफ में बाजरा में नत्रजन उर्वरको का प्रयोग करके उपज में अस्थिरता को कम किया जा सकता है और इससे शुष्क कृषि की वाह्यता बढ़ती है । उर्वरकों के साथ - साथ देसी खाद देने से ना केवल फसल की उपज में ही स्थिरता आती है, बल्कि इसकी नत्रजन का उपयोग करने की क्षमता भी बढ़ती है । कम, मध्यम व अधिक वर्षा वाले वर्षो में बाजरा की उर्वरक मांग कम ज्यादा होती रहती है, पर औसत रूप में 25 क्विंटल देसी खाद व 40 कि.ग्रा. नत्रजन उर्वरको से देना लगभग हर तरह की स्थिति के लिए उपयुक्त है ।

नमी संरक्षण व जल प्रबंधन

रुक्ष क्षेत्र में खेती की सफलता वर्षा जल के संरक्षण व दक्षतापूर्ण उपयोग पर निर्भर करती है । इसके लिए अन्तःसरण, अपवाह व वाष्पीकरण में इस तरह तालमेल बिठाने की आवश्यकता होती है, जिससे मिट्टी में अधिकतम नमी सुरक्षित रहे । वर्षा जल के अपवाह को रोकना अत्यावश्यक है । पाली में पांच साल किए परीक्षणों से पता चला कि केवल मेड़बन्दी करके ही 36 प्रतिशत तक अधिक मृदाजल संरक्षित किया जा सकता है । इस तरह मेड़बन्दी करने से अधिक वर्षा वाले वर्षो में बाजरा व ज्वार की उपज में 10 - 12 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई, जबकि सूखे के वर्षो में पैदावार में वृद्धि 200 प्रतिशत से भी अधिक रही

हल्की किस्म की मृदा की जल-धारण क्षमता बढ़ाने के लिए कुछ प्रयोग किए गए । देसी खाद व आक को मृदा सतह पर डालने से मृदा नमी में वृद्धि होती देखी गई । यह वृद्धि तब और भी ज्यादा थी जब खाद या आक के डंठल मृदा में गहराई में मिलाए गए । नाड़ी व तालाब की तलहटी की चिकनी मिट्टी मिलाने से भी मृदा नमी में, और बाजरा व मूंग की उपज में, वृद्धि हुई । 76 टन प्रति हैक्टेयर की दर से इसका प्रयोग करने पर बाजरा की उपज में 40 - 50 प्रतिशत तक वृद्धि हुई ।

बेन्टोनाइट व वर्मिकुलाइट को 20 - 40 टन प्रति हैक्टेयर की दर से प्रयोग करने से मृदा जल संरक्षण में काफी सहायता मिली, जिससे भिंडी की उपज में 25 से 45 क्विंटल प्रति हैक्टेयर की वृद्धि हुई । इन सुधारकों के प्रयोग के साथ - साथ वाष्पीकरण को कम करने के लिए पोलिथिन या घास की मल्च का प्रयोग करने से उपज में क्रमशः 15 - 60 प्रतिशत व 10 - 20 प्रतिशत तक वृद्धि और हो सकी । बेन्टोनाइट का 45 - 60 सें.मी. की गहराई पर प्रयोग करने से वर्षा जल का निस्पंदन होने में काफी कमी आई । गड्ढों व खाइयों में इस विधि से बेन्टोनाइट का प्रयोग करने से टिंडा, भिंडी आदि फसलें बिना सिंचाई के उगाना भी संभव हो पाया । अस्फाल्ट, बेन्टोनाइट आदि की 60 सें.मी. गहराई में पर्त बनाने से बाजरा की उपज में भी 50 प्रतिशत तक वृद्धि हुई, पर मंहगी होने के कारण यह विधि ज्यादा लाभ देने वाली फसलों जैसे सब्जियाँ, फल आदि में ही लाभदायक सिद्ध हो सकती है । इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिए उचित औजार की उपलब्धि हो जाने पर यह विधि कुछ हद तक किसानों द्वारा अपनाई जा सकती है ।

भूमि तल पर जल - संरक्षण

पहाड़ी व पथरीले इलाकों से व उथली भूमि वाले इलाकों से वर्षा का पानी जलाशय में एकत्र कर फव्वारा या अन्य सिंचाई विधि द्वारा सूखे के समय सिंचाई के लिए प्रयोग करके मृतप्राय फसलों को बचाया जा सकता है। सूखे के समय जलाशय में एकत्र किए वर्षा जल का प्रयोग करके यहां पर फसलों की उपज में 7 से 337 प्रतिशत तक की वृद्धि प्राप्त की गई है। इस तरह की सिंचाई से लाभ की मात्रा सूखे की तीव्रता, सिंचाई के पानी की मात्रा व फसल की वृद्धि - अवस्था पर निर्भर करती है।

समतल इलाकों में जहां ज्यादा अपवाह नहीं मिल पाता, उनके लिए अपवाह सघन करने की दो प्रणालियाँ विकसित की गई.। एक नाली - डोली विधि है, जिसमें 60 सें.मी. की डोली बनाई जाती है व 40 सें.मी. की नाली रखी जाती है। फसल की दो कतारें नाली में लगाई जाती हैं। वर्षा के पानी की कुछ मात्रा डोली से नाली में चली आती है, जिससे फसल की जड़ों के पास ज्यादा नमी रहती है। एक अन्य विधि में दो - तिहाई क्षेत्र में खेती की जाती है व एक तिहाई क्षेत्र सूक्ष्म - जलग्रहण क्षेत्र का कार्य करता है। सूक्ष्म - जलग्रहण क्षेत्र की चौड़ाई 1.5 मीटर (0.75 मीटर दोनों तरफ) व कृषि-कृत क्षेत्र की चौड़ाई तीन मीटर रखना सबसे लाभकारी पाया गया। सूक्ष्म - जलग्रहण पट्टी का ढ़ाल 0.5 प्रतिशत रखा जाता है और इसे दबाकर सख्त कर दिया जाता है, ताकि वर्षा जल का अपवाह हो सके। जलग्रहण क्षेत्र पर प्लास्टिक की शीट या जनता इमल्शन या तालाब की चिकनी मिट्टी डालने से ज्यादा अपवाह प्राप्त किया गया।

कम पानी से अधिक उपज की विधियाँ

गेहूं को पानी की अधिक आवश्यकता होती है, जबकि राया कम पानी से भी उगाया जा सकता है, क्योंकि इसकी जड़ें गहराई तक जाती है और साथ ही यह लवणता भी सहन कर लेता है। इस विधि में गेहूं को सिंचित मुख्य फसल के रूप में उगाया जाता है व गेहूं की दो पट्टियों के बीच में राया की एक पट्टी असिंचित अंतरा-शस्य के रूप में उगाई जाती है। राया की फसल गेहूं की पट्टी की मृदा से अगल बगल रिस कर गए जल का प्रयोग करके ही 5-7 क्विंटल प्रति हैक्टेयर अतिरिक्त उपज दे देती है। जबकि गेहूं की उपज पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता।

बूंद - बूंद (ड्रिप) सिंचाई विधि

यह एक आधुनिक विधि है, जिसमें पौधों की जड़ के पास उतना ही पानी दिया जाता है, जितना फसल के लिए प्रतिदिन ज़रुरी होता है। काजरी में इस विधि से सिंचाई करके फसलों की उपज बढ़ाने के कई सफल प्रयोग किए गए हैं। बूंद - बूंद विधि से सिंचाई करने पर मक्का तथा सब्ज़ी वाली फसलों का उत्पादन कई गुणा तक बढ़ाया जा सकता है। ड्रिप विधि से सिंचाई करने से पानी की मात्रा में काफी किफायत की जा सकती है। आलू की फसल में नाली - डोली विधि से सिंचाई करने पर 366 मि.मी. पानी की आवश्यकता हुई, जबकि ड्रिप विधि से केवल 183 मि.मी. पानी देकर उतना ही उत्पादन प्राप्त हुआ। इस विधि से उर्वरक भी सिंचाई के पानी के साथ - साथ पौधों की जड़ों तक पहुंचाए जा सकते हैं, जिससे उर्वरकों की मात्रा काफी कम की जा सकतीं है।

चूंकि इस विधि से पानी प्रतिदिन दिया जाता है, अतः सिंचाई के लिए खारे पानी का भी प्रयोग कर सकते हैं, क्योंकि लवण पौधों की जड़ों से दूर व नीचे चले जाते हैं । अतः अधिक खारे पानी से सिंचाई करने पर भी फसलों की काफी अच्छी पैदावार प्राप्त की जा सकती है ।

जैविक नत्रजन स्थिरीकरण

परस्पर लाभकारी नत्रजन स्थिरीकरण

यद्यपि पौधों की जड़ो में पायी जाने वाली गांठों द्वारा वायुमण्डल की नत्रजन को स्थिर करके पौधों को उपलब्ध कराना दलहनी फसलों में आम क्रिया है, परन्तु शुष्कता की अवस्था में यह क्रिया धीमी हो जाती है ।

राइजोबियम के टीके के दलहनी फसलों पर होने वाले प्रभाव को इस अनुसंधान संस्थान में जानने की कोशिश की गई है । सरेस के दो राईजोबियम *टाल- 1536* व *टाल- 1436* के प्रभाव का ग्वार *डी आर जी- 3* व मठ *जे एम टी- 2 डी* की फसलों पर तुलनात्मक अध्ययन किया गया । *टाल- 1536* एक अच्छी व विकसित किस्म पाई गई, जिसके कारण दोनों दलहनों की उपज में सुधार पाया गया तथा दूसरे तत्वों पोटाशियम, कैलशियम व लोहे के अवशोषण में सुधार पाया गया ।

फास्फोरस का गतिमान : मरु भूमि में प्रति हैक्टर लगभग 560- 750 कि.ग्रा/हैक्टर फास्फोरस पाया जाता है । परन्तु पौधों को केवल 15-25 कि.ग्रा फास्फोरस/है. ही प्राप्त हो पाता है । अतः इसे गतिमान बनाने के लिए कुछ ऐसे एन्जाइम फॉस्फेटेज, जो कार्बनिक फॉस्फोरस को पौधों के लिए परिवर्तित करने की क्षमता रखते हैं, लाभदायक पाये गये हैं । दलहनी फसलें इस प्रकार के एन्जाइम्स को उत्पन्न करने की क्षमता रखती हैं । ज़ड़ों के पास पाये जाने वाले फॉस्फेटज की गतिविधियों का लगभग सभी पौधों की वृद्धि व शुष्क पदार्थ उत्पादन से सीधा सम्बन्ध पाया गया है ।

वैम फफूंद का कार्य व प्रभाव

विभिन्न प्रकार के परीक्षणों से यह बात स्पष्ट हो गई है कि वैम फॉस्फेटेज़ एन्जाइम उत्पन्न कर सकते हैं । माइकोराहिजल फॉस्फेटेज कार्बनिक फॉस्फोरस को घुलनशील बना देते है, और पौधों के वास्ते फॉस्फोरस की उपलब्धता बढ़ा सकते है । छः दलहनी फसलों पर अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि वैम के टीकाकरण का जड़ों पर प्रभाव का उचित समय वोने के 7-9 सप्ताह बाद है । लगभग सभी मरु फसलें वैम-माइकोराहिजिया के प्रति ग्रहणशील पाई गई हैं ।

फसलों का वैम से उपचार करने के फलस्वरूप अम्लीय फॉस्फेटेज की गतिविधि में लगभग 27 प्रतिशत व क्षारीय फॉस्फेटेज की गतिविधि में लगभग 23 प्रतिशत की बढ़ोतरी दर्ज की गई । माइकोरिजिया से उपचारित वृक्षों की जड़ो में अम्लीय व क्षारीय फॉस्फेटेज की गतिविधियों मे एक साथ बढ़ोतरी पायी गई ।

वैम फफूंदो के प्रभाव से दलहनी फसलों की वृद्धि, आवश्यक तत्वों का शोषण इत्यादि ज्ञात किया गया है । वैम फफूंद के उपचार से गांठें के बनने पर तथा नत्रजन स्थिरीकरण पर लाभदायक प्रभाव रहा । जड़ो को वैम से उपचारित करने पर सूखे पदार्थ में लगभग 20 से 38 प्रतिशत तथा दानों की उपज में 15 से 22 प्रतिशत तक वृद्धि प्राप्त की गयी । इसके साथ उपचारित पौधो में तने के भाग में नत्रजन, फॉस्फोरस, तांबा व जिंक की काफी सांद्रता पायी गई ।

भूमि की जैविक उत्पादकता

आठ फसल चक्रों का 3 वर्ष तक लगातार एन्ज़ाइम गतिविधियों, नत्रजनिक वैक्टीरिया, वैम स्पोर्स, कार्बनिक पदार्थ, नाइट्रेट-नत्रजन व उपलब्ध फॉस्फोरस आकलन के आधार पर प्रभाव विश्लेषण किया गया । दलहनी फसलों ग्वार व मूंग को फसल चक्र में शामिल करने से इन सभी कारकों पर पट-बाजरा फसल चक्र के मुकाबले घनात्मक प्रभाव प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप बाजरा की उपज में अच्छी बढ़ोतरी प्राप्त की गई । ग्वार को तीन वर्ष तक लगातार फसल चक्र में शामिल करने से भूमि में कार्बनिक पदार्थ, नाइट्रेट-नत्रजन, उपलब्ध फॉस्फोरस व एन्जाइम की गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि दर्ज की गई । इसके विपरीत बाजरा की लगातार खेती करने से इन सभी कारकों पर विपरीत प्रभाव पड़ा । अतः यह निष्कर्ष निकाला गया कि भूमि की उर्वरकता व जैविक क्षमता को सुधारने के लिये फसल चक्र में दलहन फसलें विशेष रूप से ग्वार को एक से दो वर्ष तक सम्मिलित करना चाहिये ।

अवशेषों का सड़ना

विभिन्न फसलों - बाजरा, ग्वार व मूंग के अवशेषों में कार्बन : नत्रजन अनुपात में अन्तर पाया गया है । भूमि में नमी बढ़ने के फलस्वरूप कार्बन डाइ-ऑक्साइड का विसर्जन बढ़ता है । अवशेषों का संतोषजनक सड़न भूमि में 60 प्रतिशत नमी होने पर पाया गया है । जिन अवशेषों में नत्रजन की मात्रा अधिक होती है, वे जल्दी सड़ते हैं । अवशेषों के सड़ने के 7 दिन बाद डिहाइड्रोजिनेज़ गतिविधि सबसे अधिक पायी जाती है । फॉस्फेटेज़ एन्ज़ाइम की गतिविधि का भी लगभग यही क्रम पाया गया है ।

पौध संरक्षण

बाजरा

नाशीकीट

सफेद लट इस क्षेत्र का सबसे हानिकारक कीड़ा है । इसकी भृंग तथा लट दोनों अवस्थाएं नुकसान पहुंचाती हैं । जिस जगह लटों का प्रकोप होता है, पौधे पीले होकर सूखने लगते हैं । सफेद लट का रासायनिक नियंत्रण कठिन है । बेर, खेजड़ी व नीम के पेड़ों पर चढ़े भृंगों को गिरा कर नष्ट कर देना चाहिये या फिर इन पौधों पर कार्बरिल 0.2 प्रतिशत या क्लोरपाइरिफॉस 0.05

प्रतिशत का छिड़काव करना चाहिये । फसल वोने से पूर्व 60 कि.ग्रा. देशी खाद व 40 कि.ग्रा. मिथाइल पैराथियॉन पाउडर मिलाकर खूड़ों में डालना चाहिये ।

शुष्क क्षेत्रों में दीमक का प्रकोप बहुत होता है । पश्चिमी राजस्थान में दीमक की 27 से अधिक प्रजातियां हैं । कुछ प्रजातियां तो मरु भूमि में ही पायी जाती हैं । दीमक के नियन्त्रण के लिये उपचार फसल बुवाई के पहले ही किया जाना चाहिये । भूमि को तैयार करते समय 25 कि.ग्रा.प्र.है. की दर से 4 प्रतिशत एण्डोसल्फान से भूमि को उपचारित करना चाहिये ।

भूरा भृंग (ग्रे वीविल) बाजरा की पत्तियों को किनारे से खा जाता है । रोकथाम के लिये फसल पर 10 प्रतिशत कार्बरिल या 2 प्रतिशत मिथाइल पैराथियॉन का बुरकाव करें ।

राइनीप्सिया भृंग बाजरा के सिट्टों से दानों को खा जाते हैं । इनकी रोकथाम के लिये सिट्टों पर 10 प्रतिशत कार्बरिल चूर्ण का 10-15 कि.ग्रा./हैक्टेयर की दर से वुरकाव किया जा सकता है । भृंग प्रकाश की तरफ आकर्षित होते है, जव इन्हें एकत्रित करके नष्ट कर देना चाहिये ।

बीमारियाँ

बाजरा में अनेक बीमारियों का प्रकोप होता है, जिनमें जोगिया (डाउनी मिल्डयू या ग्रीन इयर), गूंदिया (अरगट), कंडवा (स्मट) व रोली (रस्ट) मुख्य बीमारियाँ हैं !

जोगिया

यह दो अवस्थाओ में देखी जा सकती है :

(अ) तुलासिता:- पौधों की 20-25 दिन की अवस्था में इसे पत्तियों की निचली सतह पर सफेद फफूंद के रूप में देखा जा सकता है ।

(ब) जोगिया :- पौधों में सिट्टे आने के समय देखा जा सकता है । सिट्टों में दानों की जगह हरे रंग के लम्बे रेशे निकल आते हैं । रोकथाम के लिए अगेती फसल ली जाय व खेतों की सफाई रखी जाये । बीजों को 6 ग्राम एप्रोन 35% प्रति किलो वीज की दर से उपचारित करके बोएं । तुलासिता के लक्षण दिखने पर रिडोमिल 0.1 प्रतिशत के दो छिड़काव करें । रोग रोधक किस्में : *बी डी-3, डब्ल्यू सी सी- 75, एम बी एच -110, एस एच बी-6* और *एम एच-175* ।

अरगट

यह रोग सिट्टों में दाने पड़ने के समय लगता है । दानों के स्थान पर छोटी - छोटी चिपचिपी वूंदें दिखाई देती हैं । रोकथाम :- अगेती फसल, उचित फसल चक्र व मिश्रित खेती करने व गर्मी के दिनों में खेत की गहरी जुताई करने से रोग कम होता है । जाइनेव 0.2 प्रतिशत और ताम्रयुक्त फफूंद नाशक 0.2 प्रतिशत का रोग के फैलाव को रोकने के लिये छिड़काव करें ।

कंडवा

सिट्टों के दाने अंडेनुमा बन कर बाहर निकल आते हैं। इनमें काला व भूरे रंग का चूर्ण भरा रहता है। रोकथाम के लिये अगेती वुवाई व गहरी जुताई करें। जीनेब 0.2 प्रतिशत का छिड़काव सिट्टें आने से पूर्व करें।

दलहनें

नाशीकीट

दलहन समूह तथा ग्वार की फसलों में लगभग दो दर्जन से अधिक प्रकार के कीटों का प्रकोप होता है। मुख्य कीट हैं :- सफेद मक्खी, फली छेदक, तना मक्खी, तैला व रोयेदार सूंडियां। सफेद मक्खी, तैला व माहू के प्रभाव को रोकने के लिये 0.04 प्रतिशत मोनोक्रोटोफॉस या 0.03 प्रतिशत फॉस्फेमिडॉन का छिड़काव प्रभावी पाया गया है। तने की मक्खी को रोकने के लिये भी 0.04 प्रतिशत मोनोक्रोटोफॉस से छिड़काव करना प्रभावी पाया गया है। रोयेंदार सूंडियों से फसल को वचाने के लिए 2 प्रतिशत मिथाइल पैराथियॉन का बुरकाव अथवा 0.07 प्रतिशत एन्डोसल्फान या 0.05 प्रतिशत क्यूनलफॉस का छिड़काव किया जा सकता है।

रोगरोधक किस्मों का बोना पौध संरक्षण की दृष्टि से काफी असरदार कदम सिद्ध हो सकता है। मूंग की *एम-एल-325*, *एम-एल-529* किस्में तैले के प्रति रोधक सिद्ध हुई हैं। चवला की *सी-ओ-4* किस्म सफेद मक्खी के प्रति रोधक पायी गई है।

बीमारियाँ

पीला विषाणु

यह रोग खड़ी फसल में वाहक कीट सफेद मक्खी (*बेमिसिया टेबेसाई*) द्वारा फैलता है। पत्तियों पर पीले धव्वे बन जाते है तथा पत्ती पूरी पीली पड़कर सूख जाती है। फसल देर में पकती है। सफेद मक्खी के नियंत्रण के लिये मिथाइल डेमेटान 0.03 प्रतिशत का छिड़काव करें।

चारकोल सड़न

भूमि से 10-12 इंच तक तने व शाखाओं पर काले भूरे रंग के धव्वे व धारियां पड़ जाती है, शाखाएं झुलस जाती हैं तथा पौधे सूख जाते हैं। *मैक्रोफोमिना फेजियोलिना* नामक फफूंद से दलहनी फसलों को भारी नुकसान पहुंचता है। रोकथाम के लिये बीजों को वोने से पूर्व कैप्टान 0.25 प्रतिशत से उपचारित किया जाये। फसल पर लक्षण दिखाई देते ही जाइनेव के घोल 0.25 प्रतिशत का छिड़काव करें।

पत्ती धब्बा

यह ग्वार का मुख्य रोग है । शुरु में पत्तियों पर छोटे गहरे भूरे रंग के गोल या असमान धब्बे देखने में आते हैं । रोग बढ़ने पर पत्तियां झुलस जाती हैं । उपचार के वास्ते रोग रोधी किस्में यथा *एच जी-75* बोयें । बीज थाइरम 0.3 प्रतिशत से उपचारित करके बोयें । रोग के लक्षण दिखते ही डाइथेन जेड-78 का 15 दिन के अन्तराल पर छिड़काव करें ।

छाछिया

इस रोग में फलियां कम लगती हैं । फलियों में बीज छोटे व सिकुडें होते हैं । रोग की रोकथाम के लिये 10-15 दिन के अन्तराल पर घुलनशील गंधक 3 कि.ग्रा./है. का छिड़काव करना लाभदायक सिद्ध हुआ है ।

तिलहनी फसलें

नाशीकीट

फली छेदक

यह तिल में लगने वाला मुख्य कीड़ा है । इसकी हरे रंग की सूंडियां शुरु में कोमल पत्तियों को खाकर तनों व फलियों में घुस जाती हैं । रोकथाम के लिये फूल आने के समय 0.025 प्रतिशत क्यूनलफॉस अथवा 0.035 प्रतिशत एण्डोसल्फान का छिड़काव किया जाये ।

सैमी लूपर

यह अरंडी को नुकसान पहुंचाने वाला मुख्य कीड़ा है । यह अरंडी की पत्तियों को तेजी से खाता है । इनका सक्रिय काल अगस्त से नवम्बर के बीच का होता है । रोकथाम के लिये पौधों पर 0.05 प्रतिशत क्यूनलफॉस का छिड़काव या 1.5 प्रतिशत क्यूनलफास चूर्ण का 20-30 कि.ग्रा./है. की दर से बुरकाव करें ।

माहू या मोयला

यह हरे रंग का राया पर लगने वाला कीट है । इसकी रोकथाम के लिये फसल पर 0.03 प्रतिशत फॉसफेमिडोन या 0.035 प्रतिशत एण्डोसल्फॉन का छिड़काव करें ।

पेन्टेड बग

काले व सफेद रंग के मध्यम आकार के ये कीड़े पत्तियों व कोमल अंगों का रस चूसते हैं । प्रभावित पौधों पर कार्बरिल चूर्ण का भुरकाव करें ।

बीमारियाँ

फिलोडी

यह तिल की सबसे भयंकर बीमारी है । इस रोग से फूलों के स्थान पर हरे रंग की पत्तियां बन जाती हैं, जिससे पौधें झाड़ीनुमा दिखाई देते हैं । फली व बीज अविकसित रह जाते हैं । अगेती या पिछेती फसलों में यह रोग कम होता है । *टी एम वी-3* व *जे-12* किस्में इस रोग के लिये रोधक पायी गई हैं ।

पत्ती धब्बा

पत्तियों पर आसमानी रंग के धब्बे देखने में आते हैं । उग्र अवस्था में तनों पर गहरे भूरे रंग की धारियाँ बन जाती हैं । तिल की किस्में *41 व 128* इसके प्रति रोधक पायी गई हैं ।

मरोडिया या तुलासिता

सरसों के इस रोग का उपचार करने के लिये बीजों को थाइरम 0.2 प्रतिशत से उपचारित करके बोया जाना लाभप्रद सिद्ध हुआ है ।

झुलसा

यह रोग सरसों में एक माह पश्चात् ही दिखाई देने लगता है । वर्षा होने पर यह रोग तेजी से फैलता है । रोग ग्रसित पौधों की पत्तियाँ, तने व फलियों पर गहरे भूरे रंग के धब्बे बन जाते है । बीमारी के नियन्त्रण के लिये कैप्टाफोल या मैन्कोजेब के घोल (0.2 प्रतिशत) का छिड़काव करना चाहिये ।

छाछ्या

पौधों की पत्तियों, तनों व फलियों पर सफेद चूर्णी फफूंद दिखाई देती है । रोग के लक्षण दिखाई देते ही 20 किलो गंधक का चूर्ण या 2.5 किलों घुलनशील गंधक 80 प्रतिशत अथवा 750 मि.ली. कैराथेन का छिड़काव प्रति हैक्टेयर की दर से 10 - 15 दिन के अन्तराल से करना लाभदायक पाया गया है ।

चारा उत्पादन एवं चारागाह प्रबन्धन

राजस्थान के शुष्क एवं अर्द्ध-शुष्क क्षेत्रों में अकसर कम व अनियमित वर्षा, तथा अकाल वाले वर्षो में खेती की अनिश्चितता के कारण पशु पालन यहां के ग्रामीणों का पुरातन काल से आजीविका एवं आर्थिक अवलंबन का प्रमुख आधार रहा है । पशुधन पर आश्रित किसान अधिक से अधिक गाय, भेड़ बकरी आदि पालते हैं । बढते हुए पशुओं के चराई दबाव के कारण तथा चारागाहों की उत्पादन क्षमता निरन्तर घटने से चारे के उत्पादन व मांग में अन्तर काफी बढ गया है । चारागाहों की इस दुर्दशा एवं असंतुलन को रोकने के लिए केन्द्रीय रुक्ष अनुसंधान संस्थान के गोचर भूमि एवं तृण विज्ञान अनुभाग में गत चार दशकों के दौरान अनुसंधान एवं विश्लेषण के द्वारा ऐसी तकनीकें विकसित की गयी हैं, जिनको अपनाकर किसान तथा विकास कार्यों में लगी संस्थाएं भूमि सुधार एवं चारा उत्पादन में समुचित वृद्धि कर सकते हैं । इन तकनीकों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :

चारागाह व चारा क्षेत्र सुधार

पशुओं की अति चराई के दबाव से चारागाह को मुक्त करने के लिए बाड़ लगाकर इसकी रक्षा की जा सकती है । अनेक प्रकार की बाड़ों का अध्ययन करने पर पता चला कि लोहे की 6 फीट उंची कोणीय शलाखाओं पर कंटीले तार की 5 पंक्तियों में खींचकर लगायी बाड़ अधिक प्रभावी रहती है किन्तु आरम्भ में यह बाड़ अधिक खर्चीली होने के कारण खाई व मेड़ बनाकर चारागाह या गोचर भूमि का बचाव करना होता है । धीरे-धीरे झड़बेरी या फोग या अरनी का प्रयोग कर वानस्पतिक बाड़ विकसित की जा सकती है । इस प्रकार गोचर भूमि को यदि पशु चराई से बचाया जा सके, तो तीन वर्ष के अन्दर ही गोचर भूमि में चारा उत्पादन दो गुणा हो जाता है ।

गोचर भूमि में चारा उत्पादन की दर को और अधिक बढाने के लिए वर्षा ऋतु में 22.5 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर नत्रजन खाद डालने से औसतन 20 से 70 प्रतिशत अधिक चारा उत्पादित किया जा सकता है । जो चारागाह कंकरीली, पथरीली व ढालू सतह वाली है तथा जहां कम गहराई वाली जमीन है, उनके सुधार के लिए .22.6 से.मी. गहरी व 61 से.मी. चौड़ी (929 व.से.मी. अनुप्रस्थ काट) समोच्य नालियां बनाने पर बिना उपचारित गोचर भूमि की तुलना में 638.7 प्रतिशत अधिक चारा उत्पादन अंकित किया गया । समोच्य नालियों की तुलना में समोच्य डोलियों व समोच्य खाइयों वाली जमीन में क्रमशः 168.6 व 165.0 प्रतिशत अधिक उत्पादन पाया गया । हैरो की तवियों में वांछित रूपान्तरण कर बनाया *काजरी पिटिंग डिस्कर* नमी व भूमि संरक्षण के हिसाब से बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है । प्राकृतिक एवं बीजित गोचर भूमि में क्रमशः 83.04 और 52.9 प्रतिशत अधिक चारे का उत्पादन देखा गया ।

चारागाहों के क्रमिक विकास के लम्बे अध्ययन के बाद यह देखा गया कि उनमें उगने वाली वार्षिक और बहुवर्षीय घासों के उत्पादन में घटत व बढत विभिन्न वर्षो में होने वाली वर्षा के क्रम व औसत वर्षा के अनुरूप थी और यह भी देखा गया कि ऐसे चारागाहों से बहुवर्षीय घासों

जैसे धामन, सेवण व करड़ की संख्या धीरे - धीरे कम होती गयी । अतः वहुवर्षीय घासों के अनुपात को उचित स्तर पर बनाये रखने के लिए उचित चराई दर व रख - रखाव आवश्यक है । कम वर्षा वाले क्षेत्रों जैसे जैसलमेर में देखा गया कि अक्सर कम वार्षिक वर्षा के कारण भूमि में सेवण का बीज कोष खत्म होकर, कांटी व अन्य खरपतवारों की वजह से बहुत कम उत्पादक रह गया । इसके विपरीत अधिक वर्षा (380 मि.मी. से अधिक) वाले क्षेत्रों मे धामन घास की संख्या में 5 गुणा वृद्धि हुई ।

चारा सस्य तकनीक

विभिन्न गहराइयों में बीज बोने से ज्ञात हुआ कि सभी बहुवर्षीय घासों के बीज का अंकुरण 1 - 2 से.मी. गहराई मे बोये जाने पर सबसे अधिक रहा । इससे अधिक गहराई मे पड़े बीज अंकुरित नहीं हुए । एक अध्ययन में सेवण घास के बीज से तैयार पौधे व जडवाले तनों का रोपण करने पर सबसे अधिक पौधे (11832/हैक्टेयर) वीज से तैयार पौधों से रोपित खेत में पाये गये । अकेले सेवण घास बोने व सेवण और ग्रामना को सम्मिलित बोने पर सबसे अधिक चारा उत्पादन (5 टन/ हैक्टेयर) अकेले सेवण घास वाले खेत से मिला । सेवण, धामण और ग्रामना को भिन्न - भिन्न अन्तराल पर बोने और खरपतवार निकालने के अध्ययन से पता चला कि एक बार खरपतवार निकालने और दूसरी बार खेत से खरपतवार निकालने में चारा उत्पादन में पहले की अपेक्षा दूसरी बार में उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई । विभिन्न अन्तरालों पर चारा वोने पर चारा उत्पादन में विशेष अन्तर नहीं पाया गया ।

खेत की सम्पूर्ण तैयारी के बाद बीजन करने में प्राप्त हुआ सेवण, धामन, मोडा धामन, ग्रामना और करड़ घासों के जीवन चक्र में कटाई, चराई, खरपतवार निकालने और खाद देने के प्रभावों का अध्ययन करने के लिए जोधपुर, पाली और बीकानेर प्रक्षेत्रों पर चारा क्षेत्र संस्थापित किये गये । उपरोक्त घासों के पौधो की ऊंचाई, तनों की संख्या और पौधो का आधार व्यास का अधिकतम अनुमापन दूसरे वर्ष चराई वाले क्षेत्र में बिना चराई वाले क्षेत्र की तुलना में अधिक पाया गया । 300 मि.मी. से कम वर्षा वाले क्षेत्रों के चारागाहों में उर्वरक डालने पर चारा उत्पादन में विशेष अन्तर नहीं पाया गया, जबकि 300 मि.मी. से अधिक क्षेत्रों वाले चारागाहों में 40 कि.ग्रा. नत्रजन और 20 कि.ग्रा. फांस्फेट उर्वरक डालने पर बिना उपचारित क्षेत्र की तुलना में डेढ़ गुणा अधिक चारा उत्पादन प्राप्त किया गया ।

चारा घास की उत्तम किस्मों का चयन

विभिन्न स्थानों और स्रोतों से संकलित बहुवर्षीय चारा घासों के बीजों की किस्में उगाकर उनका पौधो की उंचाई, कल्ले फूटने की क्षमता, तना-पत्ती अनुपात, पौष्टिकता व खाद्यता आदि गुणों के आधार पर परीक्षण कर चयन किया गया । परीक्षण के आधार पर धामन की किस्म न. *357* व *358*, मोडा धामन की किस्म नं.*175* व *76*, ग्रामना की किस्म नं. *297, 333*, करड़ की किस्म नं. *490, 491* और सेवण की किस्म नं. *318* व *319* का शुष्क व अर्द्ध-शुष्क क्षेत्रों में बीजन के लिए चयन किया गया ।

सूखा चारा उत्पादन की दृष्टि से धामन - *357*, मोडा धामन - *175*, ग्रामना - *333*, करड़ - *491* और सेवण - *319* में क्रमशः 1.81, 1.07, 3.2, 3.5 और 2.5 टन प्रति हैक्टेयर औसत चारा उत्पादन पाया गया । दलहनी चारे मे सेम किस्म नं. *144, 158, 1462* ब *1626* और अपराजिता किस्म न. *752 486, 1435* प्रमुख है । ये सभी किस्में सूखा सहनशील, स्थिर, अधिक चारा व बीज उत्पादन वाली, शीघ्र पुनर्जनन व उत्तम अंकुरण वाली हैं ।

हाल के वर्षों में उपलब्ध घास की किस्मों के तुलनात्मक परीक्षण और विकिरण उपचारित सेवण के बीजों से तैयार किस्मों का विस्तृत अध्ययन करने पर कुछ नई किस्में चारे के लिए विकसित की गयी हैं । इनमें *मारवाड़ अंजन (काजरी 75)* किस्म 1985 में प्रसारित की गयी । अंजन की यह किस्म अधिक समय तक हरी रहने के साथ 3.2 टन प्रति हैक्टेयर सूखा चारा व 56 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर बीज का उत्पादन करती है । इसमें अपरिष्कृत प्रोटीन 9 से 12 प्रतिशत पायी जाती है । दूसरी किस्म *मारवाड़ धामन (काजरी - 76)* भी वर्ष 1985 में बोने के लिए जारी हुई । इस घास की सूखा चारा उत्पादन क्षमता 2.28 टन प्रति हैक्टेयर तथा बीज उत्पादन 108 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर है । इसमें प्रोटीन 8-10 प्रतिशत है । तीसरी किस्म सेवण घास की *काजरी-30-5* के नाम से वर्ष 1992 में प्रचारित हुई । यह किस्म पतले तनों और अधिक पत्तियों की वजह से अधिक पौष्टिक है । इसकी सूखा चारा उत्पादन क्षमता 6.15 टन प्रति हैक्टेयर और बीज उत्पादन 26 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर है । इसमें प्रोटीन की मात्रा 13 प्रतिशत अनुमापित की गयी है । इसके अतिरिक्त ग्रामना की *काजरी -347* राष्ट्रीय स्तर पर 4.5 टन प्रति हक्टेयर सूखा चारा व 105 कि.ग्रा. बीज का उत्पादन दे रही है । दलहनी चारों में सेम (लबलब) *1258* तथा *40-10* क्रमशः 2.2 तथा 1.9 टन प्रति हैक्टेयर सूखा चारा उत्पादन क्षमता के कारण उल्लेखनीय है । अपराजिता (*कूलाइटोरिया टरनेटिया*) की जारी *466* किस्म क्रमशः 9.4 व 3.0 टन प्रति हक्टेयर हरा व सूखा चारा उत्पादित करती है । इसमें प्रोटीन की मात्रा 23.9 प्रतिशत है ।

चारे की गुणवत्ता

चारा घासों की गुणवत्ता की परख करने के लिए विभिन्न गुणों जैसे आई.वी.एम.डी., एन.डी.एफ., ए.डी.एफ., लिग्निन और सिलिका की उपस्थिति का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि सबसे अधिक आई.वी.एम.डी. (42.9 - 85 प्रतिशत) धामन व मोडा धामन में पाया गया और उनसे कम सेवण घास (40-50 प्रतिशत) में था । इसके विपरीत एन.ड़ी.एफ. की मात्रा सेवण घास में अधिक (60-67 प्रतिशत) और धामन व मोडा धामन में कम (50-60प्रतिशत) थी । सेवण घास में लिग्निन की मात्रा अगस्त से अक्टूबर माह तक 4.2 से 22.8 प्रतिशत तक बढी, जबकि धामन और मोडा धामन में इस अवधि में लिग्निन की मात्रा में कोई परिविर्तन नहीं हुआ । सभी उन्नत चारा घासों में सिलिका की मात्रा में कोई खास अन्तर नहीं पाया गया । अन्य घासों की तुलना में ग्रामना घास में कुल पचन योग्य प्रोटीन सबसे अधिक बीज बनने की अवस्था में पाया गया ।

एक अन्य अध्ययन में अंजन (धामन) और सेवण घास को पशुओं (भेड़ो) को खिलाने पर देखा गया कि अंजन घास सभी वांछित गुणवत्ता आयामों जैसे अपरिष्कृत प्रोटीन, ए.डी.एफ., आई.वी.डी.एम.डी और उपापचय ऊर्जा में सेवण के मुकाबले बेहतर पायी गयी ।

चित्र 3. काजरी द्वारा विकसित धामन घास की उन्नत किस्म

चित्र 4. काजरी द्वारा विकसित चारे के बीज की गोलियां बनाने की मशीन

गोचर भूमि प्रबन्ध

गांवों की गोचर भूमि में वर्षा ऋतु में भुरट, लांपड़ा, तांतिया व गांठियां जैसी मौसमी घासें उग आने से पशुओं को एक दो महीनों के लिए चराई का साधन हो जाता है और शेष समय में अखाद्य व अनुपयोगी झाडियों के अतिरिक्त कुछ भी चराई योग्य नहीं रहता है । ऐसी गोचर भूमि में मिट्टी की किस्म व औसत वर्षा के हिसाब से उचित बहुवर्षीय घासों जैसे धामन, मोडा धामन, सेवण, करड़ की किस्मों का चुनाव कर जुलाई के शुरु में ही वर्षा आने के कुछ दिन पहले अथवा पहली अच्छी वर्षा के तुरन्त बाद खेत की तैयारी करके वोना चाहिए । घास के बीजों में खेत की गीली मिट्टी 1:3 के अनुपात में मिलाकर वीज 50 से 75 सें.मी. की दूरी पर बनी लाइनों में बोना चाहिए । घास वोने के लिए प्रति हैक्टेयर धामन चार किलो, मोडा धामन - छः किलो, सेवण-6 से 7 किलो और करड़ - तीन किलो ग्राम बीज की आवश्यकता होती है । वीज लाइनों में 1-2 से.मी. गहराई में डालकर उपर से झाड़ी या पैरों की सहायता से हलकी सी मिट्टी मिला देनी चाहिए । इस प्रकार गोचर भूमि में उत्तम किस्म की चारा घास वोने पर उत्तम, पौष्टिक चारे का उत्पादन पहले साल में 12 से 15 क्विं. प्रति हैक्टेयर तथा दूसरे वर्ष के वाद 20 से 25 क्विं. प्रति हैक्टेयर या और अधिक भी हो सकता है, वशर्ते गोचर भूमि में चरने वाले पशुओं की संख्या भूमि चराई क्षमता के आधार पर रखी जाय और गोचर भूमि का रख रखाव वैज्ञानिक आधार पर किया जाय । साधारण से अच्छी वर्षा वाले वर्षो में बीजित भूमि में 30 कि.ग्रा. नत्रजन प्रति हैक्टेयर के हिसाब से उर्वरक डालने पर लगभग 60 प्रतिशत अधिक चारा उत्पादित होता है । 250 मि.मी. से अधिक औसत वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में 40 किलो नत्रजन व फॉस्फेट उर्वरकों का प्रयोग प्रति हैक्टेयर गोचर भूमि में करने पर 80 से 300 प्रतिशत अधिक चारा उत्पादन किया गया, जबकि कम वर्षा वाले क्षेत्रों मे उर्वरक प्रयोग से चारा उत्पादन में विशेष अन्तर नहीं पाया गया ।

गोचर भूमि चारा क्षेत्र में सेवण, धामन और मोडा धामन के साथ दलहनी फसलें जैसे मूंग, मोठ को अन्तःफसल के रूप में बोने पर शुद्ध चारे के मुकाबले में 0 - 30 प्रतिशत अधिक चारा पैदा हुआ । अन्य बहुवर्षीय दलहनी चारों में विभिन्न गोचर अनुसंधान क्षेत्रों में सेम का सूखा चारा उत्पादन 8.4 से 35.6 क्विं. प्रति हैक्टेयर, अपराजिता का 3.7 से 20.8 क्विं., *एटीलोसिया स्केरेबोईडिस* का 5.0 से 10.2 क्विं. प्रति हैक्टेयर अंकित किया गया । *स्टाइलोसेंथिस* की कई किस्मों का जोधपुर में परीक्षण करने पर *स्टाइलोसेथिस हमाटा* व *स्टा. स्केब्रा सी.पी.आई. 40205* दो किस्में अच्छी स्थापित हुई । किन्तु दोनों ही किस्में अधिक नमी चाहने वाली होने की वजह से अर्द्धशुष्क क्षेत्रों में लगाना अधिक उपयोगी रहेगा ।

कम वर्षा (300 मि.मी. से कम) और रेतीली भूमि में सेवण घास का चारागाह स्थापित करने के लिए बीज की गोलियां (बीज + तालाव की मिट्टी + गोवर खाद + रेत या मिट्टी उचित अनुपात में) बनाकर बुवाई करना चाहिए, ताकि वर्षा से पहले बोने पर भी गोलियां रेत में दबें नहीं और उचित वर्षा होने पर उग आयें । गोलियां बनाकर घास का बीज वोने से बीज की प्रति हैक्टेयर खपत लगभग आधी हो जाती है ।

काजरी के तृण अनुभाग में घास के बीज की गोलियां बनाने के लिए एक साधारण मशीन विकसित की गयी है । इस मशीन को स्पोक (तीलियों) के द्वारा केन्द्र में लोहे की धुरी पर पुल्ली व बॉल बियरिंग की मदद से स्थापित किया जाता है । धुरी के एक सिरे पर टायर को घुमाने के लिए एक हैंडिल लगाते हैं । इस मशीन को बनाने में लगभग 3000 रूपये की लागत आती है । टायर मे बीज, मिट्टी व खाद का मिश्रण डालकर स्प्रे पम्प की सहायता से पानी का छिड़काव करके टायर को घुमाते हुए इच्छित आकार (4.5 मि.मी. मोटी) की गोलियां बनाकर धूप में सुखा लेते हैं । गोलियां मई या जून में वर्षा से पहले बनाकर सुखानी चाहिए ।

कम वर्षा वाले क्षेत्रों की कंकरीली, पथरीली भूमि में जहां ऊपरी सतह पर मिट्टी बहुत कम या बिल्कुल नहीं होती, उसमें पालियां और नालियां (फरो) बनाकर रक्षित कर दिया गया । कुछ वर्षों में आंधी में उड़ - उड़ कर आयी रेत पालियों के बीच रुकावट से जमा होती रही । इस जमी हुई मिट्टी में सेवण घास के पौधों की संख्या व फैलाव बढ़ने से ऐसी गोचर भूमि में सेवण चारे का उत्पादन 2 टन प्रति हैक्टेयर तक बढ़ गया । जोधपुर फार्म की गोचर भूमि में धामन-358, धामन-फलसाना किस्म और मोड़ा धामन के बीजों के विकसित चारा क्षेत्रों में स्थापन के दूसरे वर्ष में सूखे चारे व बीज का उत्पादन क्रमशः 3757 कि.ग्रा. और 90 कि.ग्रा., 3080 कि.ग्रा व 60 कि.ग्रा. तथा 3025 व 60 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर पाया गया । धामन- 358, मोडा धामन- 296 और ग्रामना- 623 किस्म की चारा घासों में उनकी वृद्धि लहर की समयावधि का अध्ययन करने पर मध्य अगस्त से मध्य अक्टूबर का समय उपरोक्त घासों के लिए उचित पाया गया, जबकि सेवण में वृद्धि लहर मध्य अगस्त से नवम्बर तक पायी गयी ।

चारा उपयोग

चारा घासों की उचित पौष्टिकता को संरक्षित रखने के लिए सूखा चारा बनाने के लिए धामन व मोडा धामन को 45 से 60 दिनों की वृद्धि के बाद काटना चाहिए, जबकि सेवण घास को 60 से 75 दिन की वृद्धि पर काटने से उनमें उचित अपरिष्कृत प्रोटीन की मात्रा बनी रहती है । प्राकृतिक गोचर भूमि की तुलना मे यदि धामन + मोडा धामन, धामन + सेवण तथा धामन + मोडा धामन + सेवण घासों के मिश्रण से चारागाह विकसित किया जाय तो चारागाह में चारा उत्पादन क्षमता प्राकृतिक गोचर भूमि की तुलना में दो गुणा से भी अधिक हो जाती है । चारा घासों को काटने के अंतराल और कटाई संख्या के अध्ययन से पता चला कि वर्षा आधारित गोचर भूमि में घासों को 15 से.मी. ऊंचाई पर 30 दिनों के अन्तराल पर काटने से अधिक वर्षों तक चारागाह में उच्च स्तर का चारा प्राप्त किया जा सकता है ।

चारा बीज उत्पादन

शुष्क व अर्द्ध-शुष्क क्षेत्रों में अच्छे चारागाह विकसित करने लिए उत्तम गुणवत्ता वाले बीजों का उत्पादन बहुत आवश्यक है । इस दिशा में काजरी का गोचर अनुभाग व तृण अनुभाग अपनी स्थापना वर्षों से चारा घास बीजों का उत्पादन कर अपना योगदान करते रहें हैं । गोचर अनुभाग के विभिन्न गोचर क्षेत्रों से 1961 से 1985 तक धामन, मोडा धामन, करड़ और खारिया

घास के बीजों का प्रतिवर्ष 4 से 5 टन उत्पादन हुआ । तृण अनुभाग 1988 से 1997 तक राष्ट्रीय बीज उत्पादन परियोजना के अन्तर्गत औसतन 2 टन बीज प्रतिवर्ष पैदा कर अपने संस्थान की आवश्यकता के अतिरिक्त गोचर विकास कार्यक्रम से जुड़े अनेक राज्यों के कृषि, जल ग्रहण एवं भू-संरक्षण, पशुधन विकास आदि संस्थानों को उत्तम गुणवत्ता वाले चारे के बीज उपलब्ध कराता रहा है ।

चराई प्रबन्ध

गोचर अनुभाग के विभिन्न क्षेत्रों में स्थित चारागाहों में चारा उत्पादन पर आधारित पशु चराई क्षमता का निर्धारण किया गया, जिसको अपनाकर चारागाहों में अनधिकृत पशु चराई दबाव कम रख कर चारागाहों को अधिक समय तक सही उत्पादन हालत में रखा जा सकता है । बालुई भूमि में स्थापित विभिन्न घासों के चारा क्षेत्रों में चराई क्षमता इस प्रकार पायी गयी : धामन चारा क्षेत्र में 4.5 भेड़ प्रति हैक्टेयर, मोडा धामन में 2.5 भेड़ प्रति हैक्टेयर, ग्रामना में 4.1 भेड़ प्रति हैक्टेयर और सेवण में 6.9 भेड़ प्रति हैक्टेयर, किन्तु दोमट व अधिक औसत वर्षा वाले क्षेत्रों में चराई क्षमता का अनुपात इन चारागाहों में कहीं अधिक हो जाता है । पशुओं की संख्या के आधार पर हल्की, मध्यम और अधिक चराई जो क्रमशः 2.4, 0.80 और 0.48 प्रति हैक्टेयर प्रति वयस्क पशु के आधार पर कराई गयी, इनमें सबसे उत्तम परिणाम हल्की चराई वाले उपचार क्षेत्रों में पाये गये । साथ ही उन उपचारों में जहां अतिरिक्त पशुओं की कुल पचने योग्य प्रोटीन व अन्य पोषक तत्वों को पूरा करने के लिए जननरी से जुलाई की अवधि में पोषक आहार भी दिया गया, पशुओं के भार में दो गुणी वृद्धि हुई । अधिक चराई वाले उपचारित क्षेत्रों में यद्यपि प्रति इकाई क्षेत्रों में पशुओं ने अधिक पोषक तत्वों वाली घास की चराई की, किन्तु चराई के साथ पशुओं को अतिरिक्त पोषक आहार दिये जाने पर उन्होने घास की कम चराई की । वर्षा ऋतु में अधिक चराई दबाव के अन्तर्गत पशुओं ने पोषक घासों की 97 प्रतिशत चराई की, जिससे अधिकतर पौष्टिक घासों का गोचर भूमि से सफाया हो गया, किन्तु खरपतवारों और झाड़ियों की संख्या व सेहत पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं हुआ । चारागाहों में अलग - अलग जाति के पशुओं द्वारा मिश्रित चराई करने पर अधिक से अधिक चारा घासों व वनस्पति का चराई उपयोग होता है और गोचर भूमि में वनस्पति संतुलन भी बना रहता है । चराई प्रबन्ध की दृष्टि से यदि नियंत्रित चराई क्षेत्र के आधे भाग को चारा काटकर सुखा कर उसे कमी के समय पशुओं को खिलाया जाय, और आधे क्षेत्र में चराई कराई जाये, तो यह व्यवस्था उत्तम चराई प्रबन्ध सिद्ध होती है ।

पशुधन वृद्धि उत्पादन

हल्की, भारी और मध्यम चराई वाले क्षेत्रों में बछड़ियों की चराई कराने पर उनके भार में क्रमशः 43.7 16.5 और 25.3 कि.ग्रा. प्रति बछिया प्रति वर्ष भारवृद्धि देखी गयी । किन्तु चराई के साथ - साथ जब बछड़ियों को उनकी अतिरिक्त प्रोटीन व पोषक तत्वों की जरुरत को पूरा करने के लिए जनवरी से जुलाई तक एक कि.ग्रा. प्रतिदिन की दर से पोषक आहार भी दिया गया, तो अधिक चराई व मध्यम चराई वाले उपचारों में क्रमशः 83 और 93 कि.ग्रा. प्रति बछिया के हिसाब से वृद्धि हुई । बछड़ियों और भेड़ के बच्चों को अलग - अलग व एक साथ चराई कराने पर देखा

गया कि प्रति इकाई चराई क्षेत्र में बछड़ियों के भार में भेड़ों की तुलना में अधिक भारवृद्धि (60.5 व 85.5 कि.ग्रा) हुई जबकि भेड़ो में भारवृद्धि क्रमशः 34.3 व 38.1 कि.ग्रा. ही पायी गयी । वर्षा (अगस्त - अक्टूबर), शरद (नवम्बर - जनवरी), बसंत (फरवरी - अप्रेल), गर्मी (मई - जुलाई) में बछड़ियों को चराई कराने पर उनके भार में क्रमशः 25.3, 7.9 4.3 और 7.8 कि.ग्रा. भार वृद्धि देखी गयी । चूंकि वर्षा में अधिक पौष्टिक हरा चारा चराई के लिए उपलब्ध रहता है, इसी लिए सबसे अधिक 25.3 कि.ग्रा. भार वृद्धि पायी गयी । जैसलमेरी किस्म की बकरी के साल भर चारागाह में चरने पर प्रति बकरी 9.8 कि. ग्रा. शरीर भार में बढ़ोतरी हुई ।

वानिकी - चारागाह पद्धति

वनीकृत क्षेत्रों में लगायी गयी वृक्षों की विभिन्न जातियां उनके नीचे उगने वाली वनस्पति के साथ एक सा व्यवहार करती हैं या अलग ढ़ंग से, इस पहलू पर अध्ययन करने पर यह बात सामने आयी कि खेजड़ी, रोहिड़ा, सिरेस और कुमट वृक्षों के नीचे उगने वाली वनस्पति व घासों की जातियों और संख्या में काफी अन्तर था । सबसे अधिक घासों की किस्में और उत्पादन खेजडी वनीकृत क्षेत्र में, उससे कम रोहिड़ा और सबसे कम कुमट के नीचे पाया गया । खेजड़ी और रोहिड़ा के पेड़ों के नीचे की भूमि में नमी, कार्बनिक पदार्थ और सूक्ष्म तत्व भी और वृक्षों की तुलना मे अपेक्षाकृत अधिक पाये गये । वानिकी - चारागाह पद्धति के तहत लगाये जाने वाले चारा पेड़ो की संख्या व लगाने के अन्तराल और पेड़ो की छंगाई संबंधी आकलन भी किये गये हैं । पतचारे के लिए पेड़ो की छंगाई का आदर्श समय दिसम्बर का महीना है । इस समय पेड़ों की छंगाई (पत चारे के लिए पतली शाखाओं को काटना) से पेड़ो की वृद्धि पर कोई प्रतिकूल असर नहीं पड़ता है । शुष्क क्षेत्रों में चारे के लिए धामन व सेवण की चयनित किस्में लगाना चाहिए, जबकि अर्द्धशुष्क क्षेत्रों में धामन, मोडा धामन और करड़ की उन्नत किस्मों का चयन करना चाहिए । खेजड़ी के अतिरिक्त पतचारे के लिए अंजन वृक्ष, मोपेन, *ब्रेसिलेटिया मोलिस*, सिरेस, झड़बेरी, गैगन, और सेवन जैसे वृक्षों का चुनाव भूमि, जलवायु के अनुसार करना चाहिए । उपरोक्त अधिकतर सभी वृक्ष 7 - 8 वर्ष के बाद पतचारा देने लगते हैं । यदि अर्धशुष्क क्षेत्रों में लगाये जायें, तो पतचारा देने की उम्र एक दो साल पहले भी हो सकती है । ज्यों - ज्यों तने की मोटाई और शाखाओं का फैलाव बढ़ता जाता है, वैसे ही पतचारा उत्पादन में भी वृद्धि होती रहती है ।

वनीकरण एवं वन अनुसंधान

केन्द्रीय रुक्ष क्षेत्र अनुसंधान संस्थान, जोधपुर का इतिहास 1952 में मरु वनीकरण केन्द्र की स्थापना के साथ आरम्भ हुआ । उस समय यह केन्द्र वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून के प्रशासकीय नियंत्रण में था । इस केन्द्र का मुख्य उद्देश्य रुक्ष क्षेत्रों में वनीकरण संबंधी अनुसंधान व विकास रहा । इस केन्द्र ने चलायमान रेतीले टीलों के स्थायीकरण, वायुरोधी वृक्ष पट्टिकाओं के विकास व बहुउद्देशीय पौधों के चयन में सराहनीय योगदान दिया ।

वन अनुसंधान व विकास के क्षेत्र में पिछले चार दशकों में भारत के मरु क्षेत्र में संसार के विभिन्न भागों से कई वृक्षों की प्रजातियों को लाकर लगाया गया व उन पर विस्तृत अध्ययन किया गया । जो प्रजातियाँ इस क्षेत्र के वातावरण के अनुकूल पायी गईं, उनकी संस्तुति संबंधित विभागों, केन्द्रीय व राज्य सरकार को की गयी । इसके अतिरिक्त कृषि - वानिकी, पौधशाला तकनीकी, वृक्षारोपण तकनीकी, लघु वन उत्पाद, वन परिस्थिकी इत्यादि विषयों में गहन अध्ययन के द्वारा इस संस्थान ने समय - समय पर कई उपलब्धियाँ अर्जित कीं । संस्थान में मरु वानिकी व संबंधित विषयों पर गहन अध्ययन ज़ारी है ।

समस्याएं

अत्यधिक जैविक दबाव व असहायक मौसम चक्र के परिणाम स्वरूप राजस्थान के मरुस्थल में, केवल एक प्रतिशत भू-भाग ही वन क्षेत्र के अन्तर्गत है, जबकि सम्पूर्ण राजस्थान के दस प्रतिशत भू-भाग में वन क्षेत्र है । थार मरुस्थल में वृक्ष व झाड़ियों की बहुत ही कम प्रजातियाँ पायी जाती हैं, तथा उनकी वृद्धि बहुत धीमी होती है । निरन्तर बढ़ती मानव संख्या व उससे भी तेजी से बढ़ती हुई पशु संख्या ने इस क्षेत्र की वनस्पति पर कहर ढ़ा रखा है । इन सब कारकों के फलस्वरूप मरुस्थल में अति वेग से वन सम्पदा का विनाश हो रहा है, जो आने वाले समय में यहां के परिस्थिकी तंत्र के स्थायित्व के लिए घातक सिद्ध हो सकता है ।

वन के प्रकार

राजस्थान में पाए जाने वाले वनों में से केवल कटिबंधीय काँटेदार वन ही पश्चिमी राजस्थान के मरुस्थल में पाए जाते हैं । चूंकि मरुस्थल में इस प्रकार के वनों से केवल एक प्रतिशत भू-भाग ही आच्छादित है, इसलिए यह अति आवश्यक है कि वनों का क्षेत्र इस भू-भाग में तेजी से बढ़ाया जाय, अन्यथा निकट भविष्य में जलाऊ लकड़ी व चारे की भयावह समस्या सामने आने वाली है । आज भी थार मरुस्थल में लगभग 95 प्रतिशत जनसंख्या ईंधन के लिए लकड़ी पर निर्भर है । वृक्षों व झाड़ियों की पत्तियाँ पशुधन के लिए बहुत ही उच्च कोटि का चारा भी है ।

नई प्रजातियों का समावेश

सन् 1976 से ही यह संस्थान विभिन्न प्रकार के बहुउपयोगी वृक्ष व शाक, संसार के अन्य भागों से लाकर यहाँ की जलवायु में समावेशित करने में कार्यरत है । इन वृक्षों व शाकों की

प्रजातियों पर विस्तृत अध्ययन किया जाता रहा है । इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक वनस्पति को मरुस्थल के प़रिस्थिति तंत्र में समावेशित करना है, ताकि लकड़ी व चारे की माँग आपूर्ति के लिए वृहद् वनीकरण के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके ।

विभिन्न प्रजातियों की लगभग 588 उपप्रजातियां अब तक इस संस्थान द्वारा परीक्षित की जा चुकी हैं । इनमें से जो भी प्रजाति या उपप्रजाति यहाँ की जलवायु के उपयुक्त पायी गई, उसे मरु क्षेत्र में वनीकरण के लिए संस्तुत किया गया है । इसके साथ - साथ संस्थान में मरु क्षेत्र की स्थानीय वनस्पति, विशेषतः खेजड़ी, रोहिड़ा, जाल, बबूल कैर, फोग इत्यादि वृक्षों पर भी सतत् अध्ययन ज़ारी है । पौधों के चयन के बाद दूसरा मुख्य कारक है, उनकी उच्च गुणवत्ता वाली पौधशाला तैयार करना ।

पौधशाला

जब तक प्लास्टिक का प्रचलन नहीं हुआ था, तब तक आरम्भ में पौधे मिट्टी के गमलों में तैयार किये जाते थे । परन्तु उनकी ढुलाई करते समय कुछ गमले टूट जाते थें तथा वे जगह भी अधिक घेरते थे । इसके बाद मिट्टी की ईटें बनाकर उनमें कलम तथा बीज से पौध तैयार की जाने लगी । इसके परिणाम भी बहुत अच्छे थे, विशेषकर टीबा स्थरीकरण में । परन्तु यह तकनीक भी अधिक नहीं चल पायी, क्योंकि इन ईंटों का वजन बहुत अधिक होता था तथा ढुलाई करते समय ये टूट भी जाती थीं । इसके बाद लोहे की नलियों में पौध तैयार की जाने लगी । इसके परिणाम भी बहुत अच्छे रहें, परन्तु कालान्तर में लोहे की कीमतें अधिक बढ़ जाने के कारण सन् 1960 के मध्य में पॉलीथीन का प्रयोग किया जाने लगा ।

इस दौरान पौधशाला कार्यो के नये मानक स्थापित किये गये, मुख्य रूप से पॉलीथीन का उचित नाप, पौधशाला में पौधों के लिये मिश्रण तैयार करना, बीजों के अधिक अंकुरण के लिये बीज को उपचारित करना, बीज बुआई की गहराई, सिंचाई के समय का निर्धारण आदि । विभिन्न प्रकार के प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकला कि अच्छी पौध तैयार करने के लिये 10" x 4" नाप की पॉलीथीन थैलियां उपयुक्त हैं । जल निकासी के लिये नीचे 5-6 छोटे - छोटे छेद कर देने चाहिये । मिट्टी का सही मिश्रण दो भाग बालू मिट्टीः एक भाग काली मिट्टीः एक भाग मेंगनी खाद सबसे उपयुक्त पाया गया है । बीज बुवाई का समय फरवरी से मार्च उपयुक्त पाया गया है । बीज बोने के पहले बीजों को उपचारित करना चाहिये । भिन्न-भिन्न प्रजाति के पौधों के लिये भिन्न-भिन्न पूर्व उपचार निर्धारित किए गये हैं ।

प्रायः बीज को जमीन में 1 से 1.5 सें.मी. की गहराई में बोया जाता है । परन्तु बहुत छोटे बीजों को जैसे सफेदा, *एट्रीप्लेक्ष, एनोजीसस* ऊपरी सतह पर रखकर 1-2 मि.मी. मिट्टी बीजों के ऊपर डालनी चाहिये । होहोबा बीज को बोने का अलग तरीका है । होहोबा बीज का चौथाई भाग मिट्टी के बाहर रखना चाहिये । अगर बीज को पूरा का पूरा मिट्टी में दवा दिया जाता है, तो बीज अंकुरित न होकर जमींन में ही सड़ जायेगा । 100 थैलियों के लिये करीब 2.5 ली. प्रतिदिन के हिसाब से पानी देना होता है ।

पिछले 5-7 वर्षो से पौधशाला कार्य विधि में रुट ट्रेनर का प्रयोग काफी बढ़ा है । इस के प्रयोग से जड़ों की कुण्डली नहीं बनती है और न ही पौधशाला की क्यारियों में जड़ें आ पाती हैं । रुट ट्रेनर को अनेक बार प्रयोग में लिया जा सकता है, जबकि पॉलीथीन की थैली का प्रयोग एक बार ही होता है । पीट, मॉस व परलाइट का मिश्रण अधिक उपयुक्त पाया गया है । जहाँ पीट, मौस और परलाइट नहीं हो, वहां बकवीड कम्पोज तथा मेंगनी खाद 3:1 का मिश्रण उपयुक्त रहता है । नर्सरी मिश्रण में काली मिट्टी की जगह फ्लाई एश भी काम में ली जा सकती है । इसमें भी पौधों की बढ़वार अच्छी देखी गई है ।

जब पौधा 5-7 महिनों का हो जाता है (40 - 45 सें.मी. ऊंचा तथा 0.5 से 1.0 सें.मी. तने की मोटाई) तब जुलाई माह में खेत में लगाने के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है ।

टीबा स्थिरीकरण

कृषि भूमि, सड़क व रेल यातायात, भवनों व रहवासीय क्षेत्रों तथा नहर आदि क्षेत्रों में चलायमान टीबों के कारण बहुत सारी समस्याएं होती थीं । इन समस्याओं का समाधान करने हेतु सन् 1952 से ही यह संस्थान टीबा स्थिरीकरण तकनीकी विकसित करने में लगा हुआ था तथा उचित तकनीकें विकसित भी कीं । वन विभाग राजस्थान ने इनको बड़े पैमाने पर अपना लिया । टीबा स्थिरीकरण करने के लिये निम्न तकनीकें विकसित की गईं :

- जिन टीबों का स्थरीकरण करना हो उन टीबों की बाड़बन्दी करना, जिससे जैविक अड़चनें रोकी जा सकें
- टीबों की सतह पर सूक्ष्म वायुरोधक लगाना - अगर हवा का प्रभाव कम हो तो वायु अवरोधक 5 मी. के अन्तराल पर समानान्तर दूरी पर पंक्तियों पर लगाना चाहिये । हवा का प्रभाव अधिक हो तो वायु-अवरोधक को शतरंज के आकार में लगाना चाहिये । वायु-अवरोधक लगाने से टीबों की सतह पर से मिट्टी का कटाव बहुत कम हो जाता है । सूक्ष्म वायु-अवरोधक के लिये स्थानीय उपलब्ध झाड़ियां, जैसे झड़बेरी, बुई, सिणिया इत्यादि काम में ली जा सकती हैं ।

पिछले कुछ वर्षो से अरब देशों में पेट्रोलियम पदार्थों के शुद्धिकरण के बाद बचे अपशिष्ट (ब्यूटामीन या स्फाल्ट) से टीबों की सतह पर छिड़काव के बाद में वृक्षारोपण किया जा रहा है । इसी प्रकार जहाँ चिकनी मिट्टी अधिक मात्रा में उपलब्ध हो वहाँ चिकनी मिट्टी का घोल बनाकर छिड़कने से झाड़ियों की मल्चिंग करने की जरुरत नहीं होती है ।

पौध व घास रोपण

सूक्ष्म वायु-अवरोधक शतरंजी डिजाइन में लगाने के बाद उसमें 5 x 5 मी. दूरी पर उपयुक्त पौधे लगाये जा सकते है । सेवण घास, मुरट घास तथा तुम्बा के बीज का बरसात में छिड़काव कर देना चाहिये । टीबा स्थरीकरण के लिये निम्नलिखित पेड़, झाड़ियां व घास उपयुक्त पाए गये हैं : *अकेसिया टोरटलिस* (इजरायली बबूल), *केलीगोनम पोलीगोनाइडिस* (फोग),

अकेसिया न्यूबीका (न्यूबीका), *अकेसिया बेविनोसा* (आस्ट्रेलियन बबूल), *कोरदिया रोथाई* (गून्दी) *लेस्यूरस सिन्डीकस* (सेवण), *पेनिकम एन्टीडोटाल* (मूरट), *सिट्रलस कोलोसिन्थिस* (तुम्बा) आदि ।

टीबा स्थाई करने के पश्चात् स्थाई टीबों से कई प्रकार के अध्ययन किये गये जैसे रेत की गतिशीलता, मृदा उर्वरता, मृदा की नमी, भूमि की बनावट, पौधों का भार, और पेड़ो की जड़ों की बनावट इत्यादि । परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि चल व अर्धचल टीबों से क्रमशः 615 टन व 325 टन प्रति हैक्टेयर मिट्टी का कटाव होता है । अगर टीबों का स्थिरीकरण होता है तो मिट्टी का कटाव करीब 75 प्रतिशत रुक जाता है ।

इसी प्रकार यह भी देखा गया है कि स्थिरित किये गये टीबों में उर्वरा शक्ति के ह्रास की जगह उसमें बढ़ोत्तरी होती है । यह भी देखा गया है कि उपलब्ध नत्रजन व फॉसफोरस की मात्रा भी 120 प्रतिशत तथा 158 प्रतिशत अधिक मात्रा में पायी जाती है । इसका मुख्य कारण मिट्टी का कटाव रुकना, पेड़ पौधों की सूखी पत्तियों व जड़ों का जमीन में गलना तथा उसके द्वारा खनिज तत्वों का जमीन में वापिस आना है । खनिज लवण ही नहीं, अपितु भूमि की संरचना में भी अन्तर पाया गया है ।

जैविक तत्वोत्पादन

चलित टीबों पर वर्षा ऋतु में सिर्फ अल्पजीवी उगते है तथा जैसे ही वर्षा समाप्त होती है ये भी समाप्त हो जाते हैं । इस प्रकार 100 से 500 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर पैंदावार होती है । परन्तु स्थिरीकरण के पश्चात् टीबों से 12 वर्ष बाद 53 टन प्रति हैक्टेयर तो सिर्फ जलाऊ लकड़ी ही प्राप्त हो जाती है । इसके अलावा प्रति वर्ष पेड़ों से फलियां, पत्तियां इत्यादि भी मिलती हैं, जिससे एक हैक्टेयर से प्रति वर्ष 5000/- रूपये प्राप्त किये जा सकते हैं । चलित व अर्धचलित टीबों पर खेती करने से 500/- से 1000/- रूपये प्रति वर्ष मिल जाते हैं ।

चट्टानी भूमि पर वृक्षारोपण की विधियाँ

राजस्थान में करीब 6.3 प्रतिशत भाग इस प्रकार की भूमि के अन्तर्गत आता है । इस प्रकार की भूमि में वन सम्पदा या वनस्पति सम्पदा नगण्य सी होती है । मुख्य रूप से ऐसी भूमि में डंडाथोर, गेंगन, वज्रदन्ती, लॉप इत्यादि पाए जाते हैं । कम वनस्पति होने के कारण भूमि का अधिक कटाव होता है । कटाव को रोकने के लिये ऐसी भूमि में पेड़ पौधे लगाने की तकनीक तैयार की गई है । सबसे पहले ढ़लान के आधार पर कन्टूरबन्ड मेड़बन्दी तैयार करके कन्टूर पर उपयुक्त पेड़ पौधे व घास लगाए जाते है । जहॉ पर ढ़लाऊ भूमि है, वहाँ पर अर्धचन्द्राकार बंड खड्डे के ढ़लान की विपरीत दिशा में बनाना चाहिये, जिससे बहता हुआ पानी गढ्ढे में ही रोका जा सके । जहां पर मिट्टी की सतह कम गहरी हो वहॉ पर ट्रेक्टर से 1.0 मी. गहरा तथा 45 सें.मी. व्यास का गढ्ढा बनाकर पौधा लगाना चाहिए । ऐसी जमीन के लिये निम्न पेड़ पौधे अधिक उपयुक्त पाए गए हैं : कूमट (*अकेसिया सेनेगल*), धावड़ा (*एनोजिसस रोटन्डीफोलिया*), गेंगन (*ग्रेविया टेनेक्स*), सालर (*बोसवेलिया सिराटा*), चूरुल (*होलोप्टीया*) प्रजाति इत्यादि ।

चित्र 5. पौधशाला की विकास यात्रा : मिट्टी के गमलों से रूट ट्रेनर तक

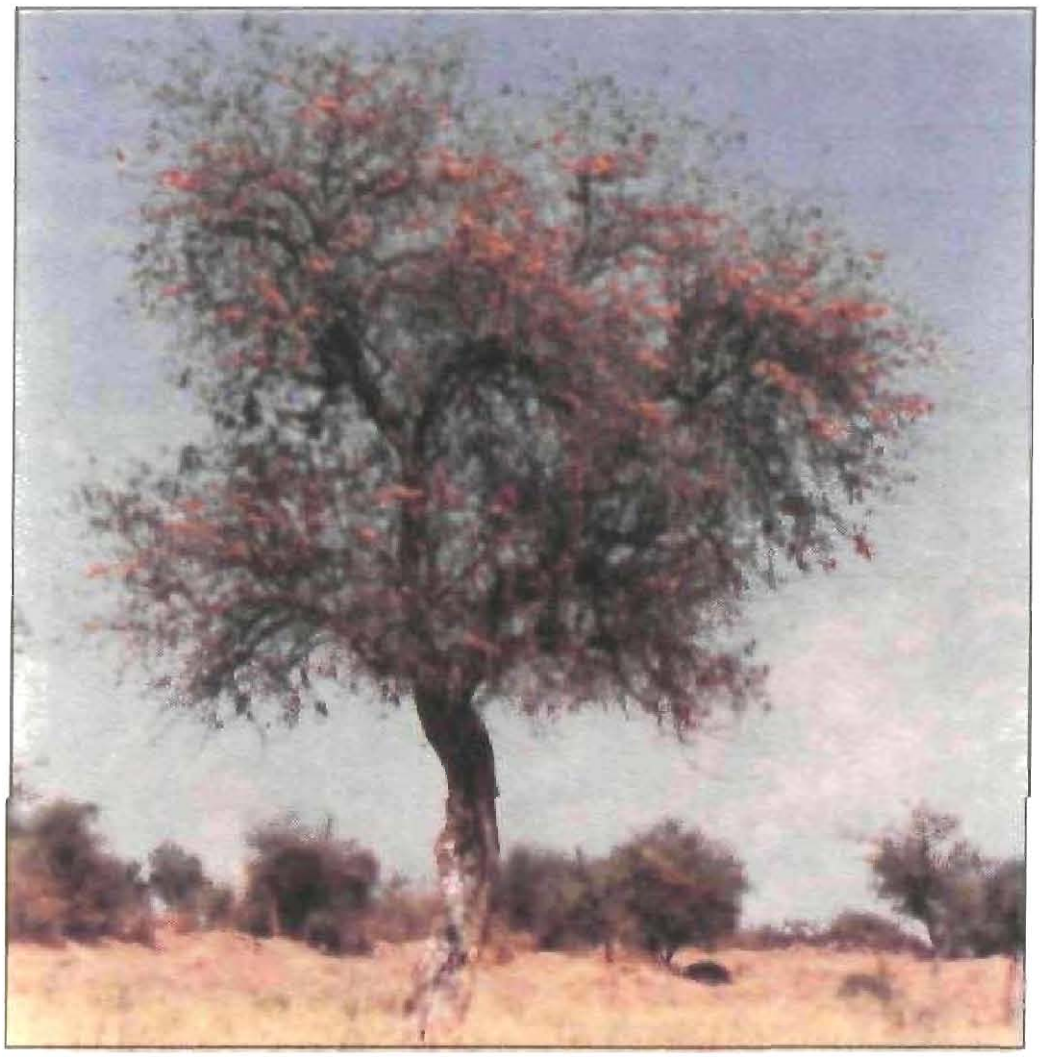

चित्र 6. रोहिड़ा : बहुमूल्य मरुक्षेत्रीय वृक्ष

खारी जमीन पर वृक्षारोपण

राजस्थान में खारी जमीन पर पौधों का पनपना वड़ा ही मुशकिल होता है । संस्थान ने इनमें पनपने वाले पौधों का चयन किया है, जिनमें मुख्य रूप से *एट्रीप्लैक्ष, टेमरिक्ष, साल्वाडोरा, हेलोक्सीलोन* तथा *प्रोसोपिस* प्रजातियां हैं । चूंकि मृदा में अधिक लवण होने से पौधों का जीवित रहना मुश्किल होता है, इसलिये रोपण विधि विकसित की गई । इसमें रिज और फरो विधि वहुत उपयोगी सिद्ध हुई है । रिज की ऊंचाई करीव 1 मी., नीचे से चौड़ाई 1 मी. तथा ऊपर 50-75 सें.मी. रखी जाती है । दो रिज के वीच में 3 मी. की दूरी रखनी होती है । रिज के ऊपर पौधे लगाये जाते हैं । डेढ से 3 कि.ग्रा. जिप्सम व 4 से 6 कि.ग्रा. मेंगनी की खाद से उपचारित गढ्ढों में 50 से 60 प्रतिशत पौधे जीवित रहते हैं ।

उन्नत वृक्षों का चयन

चूंकि स्थानीय पौधे वहुत ही धीमी गति से वढ़ोतरी करते है, जिससे वढ़ती हुई जनसंख्या व पशुओं के लिये ईधन व चारा नहीं मिल सकता, इसलिए वर्ष 1960 से ही प्रयास किये जा रहे हैं कि इन पौधों में अधिक तेजी से वृद्धि की जा सके । खेजड़ी, कुमट, रोहिड़ा, देशी वबूल, *अकेसीया ऐलबीडा* व *अकेसिया टोरटलिस* में अधिक वृद्धि करने वाले पौधों से वीज प्राप्त कर वीजोद्यान लगाये गये । इस प्रकार के चयन द्वारा अधिक वृद्धि के प्रयास सफल रहे । संस्थान में पिछले कुछ वर्षो में वानस्पतिक संवर्द्धन की तकनीक तैयार की गई तथा इस तकनीक से बहुत सारी प्रजातियों के पौधें तैयार किये गए हैं । इसी प्रकार ऊतक संवर्धन से भी खेजड़ी तथा खजूर के पौधे तैयार कर खेत में लगाए गए हैं ।

आर्थिक उपयोग के पौधों का चयन

वन्य पौधों को लगाने का काम मुख्य रूप से वनकर्मियों द्वारा ही किया जाता रहा है । इस कारण साधारण जनता का इसमें लगाव वहुत कम हुआ तथा दूसरा यह भी कारण था कि वन्य पौधों से लाभ करीव 25-40 वर्ष के वाद ही होता है, इसलिये जनसाधारण को पौधे लगाने के प्रति रुचि नहीं रही । इस संस्थान ने पिछले कुछ वर्षो में अनुसंधान कर पौधों को आर्थिक रूप से अधिक उपयोगी करने के प्रयास किये हैं । कुमट (*अकेसिया-सेनेगल*), धावड़ा *एनोगाइसस अकेसिया रोटूनडीफोलिया*, सालर (*बोसवेलिया सिराटा*), व गुग्गल (*कॉमिफोरा वाइटी*) इत्यादि पौधों से अधिक धन-लाभ कमाया जा सकता है । इन सभी पौधों से गोंद व ओलियो-रेजीन-गम निकलते हैं । इन्हें 200-300 रूपये प्रति किलों के हिसाव से वाजार में वेचा जा सकता है । हारमोन द्वारा इनकी मात्रा 500 से 1500 ग्राम ली जा सकती है, जवकि विना हारमोन से इनकी मात्रा 10 से 200 ग्राम प्रति पौधा आती थी ।

शुष्क उद्यानिकी

केन्द्रीय रुक्ष क्षेत्र अनुसंधान संस्थान में उद्यानिकी अनुसंधान का आरंभ 1972 में हुआ । रुक्ष क्षेत्र की जलवायु की विषमता तथा पानी की उपलब्धता के आधार पर किन -किन फल वृक्षों को बिना पानी के, किन - किन को पूरक पानी देकर तथा किन - किन को पर्याप्त पानी की सुविधा होने पर सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है, इन्हीं प्रश्नों का समाधान खोजने हेतु इस संस्थान में बेर, अनार, खजूर, आँवला, बेल, करौंदा, सीताफल, कैर व गूंदा जैसे फल वृक्षों पर अनुसंधान कार्य प्रारम्भ किया गया । पिछले 25 वर्षो में विभिन्न फल वृक्षों पर किये गये अनुसंधान कार्यों की उपलब्धियां इस प्रकार हैं : इनमें से कुछ तकनीकें बहद् स्तर पर किसानों द्वारा अपनायी जा चुकी है तथा कुछ कार्य आधार भूत प्रकति के अनुसंधान कार्यों की श्रेणी में आते हैं ।

जैव द्रव्य संकलन एवं मूल्यांकन

बेर

देश के विभिन्न जलवायु व स्थानों पर उगायी जाने वाली विभिन्न प्रकार की 84 प्रजातियों को इकट्टा करके इस संस्थान में लगाया गया तथा इन प्रजातियों में उनके गुणावगुणों के आधार पर विषम जलवायु में पनप सकने की क्षमता रखने वाली तीन प्रमुख किस्में सेव, गोला व मुण्डिया को इस क्षेत्र में उगाये जाने के लिये चयनित् किया गया । इन किस्मों को वर्षा आधारित परिस्थितियों में उगाया जा सकता है । देर से फल देने वाली किस्में इस क्षेत्र के लिये उपयुक्त नहीं पायी गयीं । इन किस्मों का जैविक तथा अजैविक व्यवधानों का सामना करने की क्षमता का मूल्यांकन किया गया तथा यह पाया गया कि ये किस्में खारी व लवणीय दोनों परिस्थितियों में आसानी से उगायी जा सकती हैं । ये किस्में 4-6 ई सी तक के खारे पानी में आसानी से पनप सकती हैं ।

अनार

बेर की तरह अनार भी शुष्क क्षेत्र में उगाया जाने वाला प्रमुख फल है । इसकी लगभग 40 प्रजातियों को भिन्न - भिन्न स्थानों से एकत्रित कर उनका स्थानीय परिस्थितियों में परीक्षण किया गया । *जालोर बेदाना* किस्म के पौधे सदाबहार होते हैं । इसके फल बड़े आकार (250-300 ग्राम) के, मुलायम बीज युक्त होते हैं । इस किस्म के फल लाल गुलाबी रंग के मीठे व खुशबूदार होते है । इसके दाने लाल रंग के होते हैं, जिनमें 50-55 प्रतिशत तक रस होता है । यह किस्म खारी मिट्टी व खारे पानी में उगायी जा सकती है । औसत उपज 25 - 30 कि.ग्रा. प्रति पौधा है ।

खजूर

देश विदेश से लाई गयी खजूर की 20 प्रजातियां को इस संस्थान में लगाया गया है । इन किस्मों के मूल्यांकन के बाद यह पाया गया कि *हलावी* नामक किस्म इस क्षेत्र के लिये सबसे उपयुक्त रहती है । यह अगेती पकने वाली प्रजाति है, जिसके फल वर्षा आरम्भ होने से पहले ही पक कर तैयार हो जाते हैं ।

कैर

शुष्क क्षेत्र में विभिन्न स्थानों से लगभग 20 प्रकार के संकलन एकत्रित किये गये हैं तथा इनका मूल्यांकन किया जा रहा है । कैर के सूखे फलों में भण्डारण के दौरान लगने वाले कीड़ों पर अनुसंधान किए जा रहे हैं ।

गूंदा

यह राजस्थान प्रदेश का मूल देशज है । इसके वृक्ष पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी पाये जाते हैं । कड़ी धूप को सहन करने की क्षमता रखने वाले इस वृक्ष को वायु रोधक के रूप में भी काम में लिया जाता है । विभिन्न स्थानों पर सर्वेक्षण करके लगभग 20 संकलनों को इकट्टा किया गया तथा उसका मूल्यांकन किया जा रहा है । अगेती फल लेने के लिये जनवरी के मध्य में पत्तों को गिरा देना चाहिए ।

आँवला

बेर व अनार के बाद, आँवला शुष्क क्षेत्र में पनपने वाला एक प्रमुख फल वृक्ष है । इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह सूखे को सहन करने के साथ खारे पानी व खारी जमीन में बहुत ही सरलता पूर्वक उगाया जा सकता है । यह 10 से अधिक पी.एच. मान वाली मिट्टी में भी उगाया जा सकता है । विभिन्न प्रजातियों के मूल्यांकन के बाद यह पता चला है कि *कंचन, कृष्णा, नरेन्द्र, आँवला-7* तथा *चकैया* किस्में इस क्षेत्र के लिये उपयुक्त है । इसके फल औषधि के रूप में भी प्रयोग किये जाते हैं ।

बेल

आँवला की तरह बेल भी एक औषधीय समूह का पौधा है । इसके फल गर्मियों में पक कर तैयार होते है तथा स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक होते है । विभिन्न प्रजातियों के मूल्यांकन के आधार पर *लालजीत साम्भीपुरी, फैज़ाबादी देशी, काजरी चयन* किस्में यहां के उपयुक्त पायी गयी हैं ।

करौंदा

राजस्थान व महाराष्ट्र के पहाड़ी क्षेत्रों का गहन सर्वेक्षण करके लगभग 27 उप प्रजातियों का संकलन किया गया तथा उनका मूल्याकंन भी किया गया इन में काफी अनुवांशिकी भिन्नता

पायी गयी । इसके फल सफेद गुलाबी, गहरा लाल तथा गुलाबी रगं लिये हुये होते हैं । फलों के आकार में भी विभिन्नता पायी गयी ।

सीताफल

इस फल वृक्ष के सर्वेक्षण एवं मूल्यांकन का कार्य हाल ही में प्रारम्भ हुआ है । सर्वेक्षण के आधार पर सीताफल उगाये जाने वाले क्षेत्रों में इसके फलों में बहुत ही आनुवांशिक विभिन्नतायें पायी गयीं । कुल 13 प्रकार के सीताफल इकट्ठा करके उनका मूल्यांकन किया गया तथा यह पाया गया कि *बालानगर* और *चित्तौड़गढ़* देसी किस्में इस क्षेत्र के लिये उपयुक्त हैं ।

सारिणी : मरु फल वृक्षों की सिफारिश की गयी उन्नत किस्में

फल का नाम	सिफारिश की गयी उन्नत किस्में
बेर	*गोला, मूण्डिया, सेव, उमरान*
अनार	*जालोर बेदाना, जी-137, गणेश*
आँवला	*कन्चन, कृष्णा, चकैया*
बेल	*लालजीत, साम्भीपुरी, काजरी चयन, धारारोड व फैजाबादी देसी*
खजूर	*हलावी, शामरान, खदरावी, मैदजूल*

पौध प्रवर्धन

बेर

बेर का पौधा आंख चढ़ाकर तैयार किया जाता है । इसके लिये बेर की गुठली तोड़कर उससे प्राप्त मींजी (गिरी) को अप्रैल के महीने में खाद व मिट्टी के मिश्रण से भरी पॉलीथीन की नलियों में बुआई करते हैं । ये पौधे जुलाई तक आंख चढ़ाने योग्य हो जाते हैं । आंख चढाने के 25-30 दिन बाद ये पौधे खेत में लगाने योग्य हो जाते हैं । बेर का पौधा तैयार करने की संस्थान द्वारा विकसित विधि बहुत ही आसान है । इस विधि के आधार पर कई निजी पौधशालाएं स्थापित हुई हैं तथा इन पौधशालाओं द्वारा पूरे देश में लाखों की संख्या में बेर के पौधे भेजे जा रहे हैं ।

अनार

अनार के पौधे कलम द्वारा तैयार किये जाते हैं । इसके लिये 9 इन्च लम्बी टहनी लेकर उसे 250 पी.पी.एम. इन्डाल ब्यूटारिक एसिड के सान्द्रण में 15 घन्टे तक डुबोने के वाद नर्सरी की क्यारी में लगाये जाने पर 70-80 प्रतिशत सफलता मिलती है । कलम लगाने का सवसे उपयुक्त समय 15 फरवरी से 5 मार्च तक आंका गया है । अप्रैल से जून तक कलम नहीं लगाना चाहिये । कलम लगाने के 4-5 महीने वाद पौधे खेत में लगाने योग्य हो जाते हैं ।

चित्र 7. मरुक्षेत्रों के लिए उपयुक्त बेर की गोला किस्म

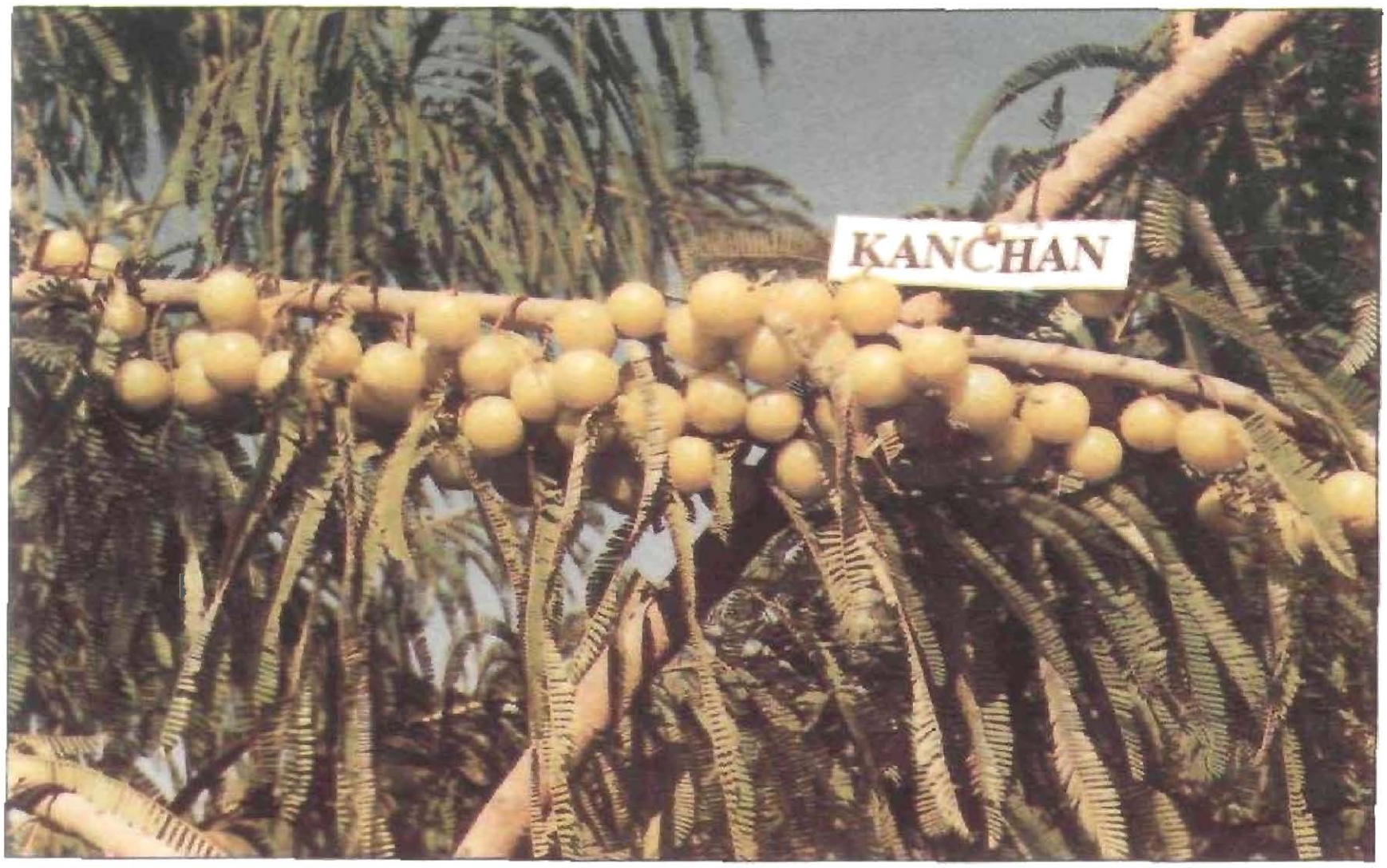

चित्र 8. आंवले की उन्नत किस्म कंचन

आँवला

आँवला के पौधे भी बेर की तरह ही तैयार किये जाते हैं । इस पर आँख चढ़ाने का काम जुलाई से सितम्बर तक उपयुक्त पाया गया है । इसके लिये देशी आँवले के बीज को निकाल कर उसे पॉलीथीन की नलियों में बुआई करते हैं तथा 5-6 महीने के बाद ये पौधे आँख चढ़ाने योग्य हो जाते हैं ।

बेल

बेल के पौधे भी आँख चढ़ाकर तैयार किये जाते हैं । मूलवन्त तैयार करने तथा इस पर आँख चढ़ाने का उपयुक्त समय जुलाई - सितम्बर पाया गया है ।

खजूर

खजूर के पौधे भूस्तारी द्वारा तैयार किये जाते हैं । जब पौधे 5-6 वर्ष पुराने हो जाते हैं तो उसमें से छोटे-छोटे ऑफ शूट (पार्श्व शाखा) निकलते हैं । इन्हें उसके मातृ पौधे से निकालकर उपयुक्त स्थान पर लगाया जाता है ।

केर

केर के पौधे अनार की तरह कलम के द्वारा तैयार किये जाते हैं । इसके लिये 2500 पी.पी.एम. के इन्डाल ब्यूटायरिक एसिड के सान्द्रण में 9" लम्बी कलम काटकर जुलाई के महीने में लगाने से काफी अच्छी सफलता प्राप्त हुई है ।

शस्य क्रियाएं

बेर

असिंचित अवस्था में अच्छी उपज पाने के लिये बेर के पौधे 6 x 6 मीटर की दूरी पर लगाने चाहिये ।

जल संचयन तथा सरंक्षण : शुष्क क्षेत्र में जल संरक्षण करना बहुत ही महत्वपूर्ण है । पौधों के अच्छे संस्थापन के लिये बेन्टोनाइट का प्रयोग बहुत ही सफल रहै है । यह प्राकृतिक रूप से राजस्थान में पाया जाता है, जो अपने वजन का कई गुना पानी अवशोषित कर उसे धीरे -2 निकलने देता है, जिससे नये पौधे लगाने में काफी सहायता मिलती है ।

जलतृप्ति (दोहरी दीवार वाला गमला) भी नये पौधों के स्थापन के लिये उपयुक्त पाया गया है । इसमें अन्दर वाले गमले में पौधे लगाये जाते हैं, जिसमें नीचे छिद्र होता है तथा बाहर वाले गमले में पानी भर दिया जाता है । बाहरी गमला नीचे से बन्द रहता है । दोनो गमलों के बीच खाली जगह में पानी भर दिया जाता है, जो धीरे - धीरे पौधों को प्राप्त होता रहता है ।

स्थलीय जल संरक्षण का शुष्क क्षेत्र में काफी महत्व है । पौधे के आसपास के पानी को अधिक से अधिक उपयोग करके उससे उपज बढाने में काफी सफलता मिली है । बेर के लिये प्रति पौधे के लिए 54 वर्ग मीटर ढाल क्षेत्र, 5 प्रतिशत ढलान के साथ सबसे उपयुक्त पाया गया है । इस विधि से लगभग 1.5 से दो गुना तक उपज में वृद्धि पायी गयी है ।

कांट-छांट : बेर के पौधो में कटाई - छंटाई का विशेष महत्व है, क्योंकि इसके फल नयी शाखाओं पर आते हैं । अतः प्रत्येक वर्ष 15 मई के आस पास बेर की कांट-छाटं करना अति आवश्यक है । इसके लिये पुरानी शाखाओं का एक तिहाई हिस्सा छोड़कर शेष भाग को काट देना चाहिये ताकि अगले वर्ष अच्छी उपज प्राप्त हो सके ।

पोषणः बेर के अधिक उत्पादन के लिये उर्वरक का प्रयोग करना भी लाभदायक रहता है । एक पूर्ण विकसित पेड़ के लिये 500 ग्राम नत्रजन तथा 250 ग्राम फॉस्फोरस उपयुक्त पाया गया है । यूरिया (2 प्रतिशत) तथा जिंक सल्फेट (0.5 प्रतिशत) का छिड़काव फल लगने के समय करने से उपज में काफी वृद्धि पायी गयी है ।

अनार

5 वर्षो के अध्ययन के बाद यह पाया गया कि अच्छी उपज के लिए 500 ग्राम नत्रजन प्रति पौधे का उपयोग उचित रहता है । नत्रजन की यह मात्रा तीन बराबर भागों में जुलाई, अगस्त व सितम्बर के महीनों में देना उपयुक्त रहता है ।

दूरी : अध्ययन द्वारा विभिन्न दूरियों के मूल्यांकन पश्चात् 5 मीटर पंक्ति से पंक्ति की दूरी को उपयुक्त पाया गया । इस दूरी पर अन्तः शस्य क्रियाएं आसानी से की जा सकती हैं । शुरु के वर्षो में 5 गुणा 2 मीटर तथा 5 गुणा 3 मीटर की दूरी उपयुक्त पायी गयी, लेकिन आगे चलकर कम दूरी वाले पौधों के फल छोटे होने लगे तथा उपज भी कम मिलने लगी । अतः शुष्क क्षेत्रों में 5 गुणा 4 मीटर की दूरी उपयुक्त रहती है । लेकिन जहां पर बूंद - बूंद सिंचाई पद्धति से पानी दिया जाता हो, वहां के लिये 5 गुणा 5 मीटर की दूरी उपयुक्त रहती है ।

सिंचाई :- अनार के पौधों में पानी की मात्रा के निर्धारण के लिये किये गये अध्ययन द्वारा यह पाया गया कि जून से फरवरी तक कुल 11 - 12 सिंचाई पर्याप्त होती हैं । प्रत्येक सिंचाई के समय 60 लीटर पानी प्रति पौधा देना आवश्यक होता है । बूंद - बूंद सिंचाई पद्धति से पानी देने के लिये भी अध्ययन किया गया तथा यह पाया गया कि 8 लीटर प्रति घण्टे के हिसाब से 3 घण्टे प्रतिदिन पानी देने से उपज में 3 - 4 गुणा तक वृद्धि हुई तथा फलों का फटना भी रुक गया । फलों का आकार बढ़ा तथा 300 - 500 ग्राम तक के फल प्राप्त हुए ।

खजूर

परागण अध्ययन : खजूर के नर व मादा पौधें अलग - अलग होते हैं, अतः परागण की समस्या रहती है । इसके निवारण हेतु अध्ययन किया गया । अच्छे फल लगने के लिये प्रत्येक तीसरे दिन, दिन में तीन बार हाथ से परागण का कार्य करना चाहिए ।

गुच्छा व्यवस्थापन : खजूर के फूलों के गुच्छें में से एक तिहाई फूलों को डंठल सहित हटा देने से फल का आकार बड़ा तथा उपज अच्छी मिलती है ।

पार्श्व शाखा का संस्थापन : खजूर के पौधें से निकाली गयी पार्श्व शाखा को 2000 पी.पी.एम. इन्डाल ब्यूटारिक एसिड तथा ताम्र कवकनाशक से उपचारित करके लगाने से उसका संस्थापन अच्छा होता है । बेन्टोनाइट का प्रयोग करने से भी इसके पौधों का संस्थापन अच्छा होता है ।

पौध संरक्षण

नाशीकीट

बेर

बेर में लगने वाले प्रमुख तथा अन्य नाशीकीटों के बारे में विस्तृत अध्ययन कर उनके प्रबंधन की तकनीकें विकसित की गयी हैं । उपलब्ध जैव द्रव्य का फलमक्खी, छालभक्षी सुण्डी, चैफर भृंग, वरुथी (माइट) तथा चिड़ियों द्वारा पहुंचायी जाने वाली क्षति की दृष्टि से मूल्यांकन किया गया । *टीकड़ी* प्रजाति पर फलमक्खी का सबसे कम प्रकोप पाया गया । विभिन्न प्रजातियों में नाशीकीटों द्वारा पहुंचायी गयी क्षति में काफी भिन्नता पायी गई । बेर के परागणकर्ता कीटों के बारे में भी अध्ययन किये गये । फलमक्खी के जीवनचक्र के विस्तृत अध्ययन द्वारा मरु तथा अर्द्धमरु क्षेत्रों में इस कीट के दो प्रकार के पोषित (प्यूपा) विद्यमान होने का पता चला । फलमक्खी के नियंत्रण के लिए कीटनाशक दवा के प्रयोग के लिए फलों की उचित अवस्था तथा समय का पता लगाया गया । बेर में फूल आने के समय ऐसे किसी भी कीटनाशक का प्रयोग निषिद्ध कर दिया जाना चाहिए, जिससे परागणकर्ता कीट दुष्प्रभावित होते हों । जब आरंभिक फल मटर के दाने के बराबर होने लगें, वही समय फलवृक्षों पर छिड़काव करने का होता है ।

बेर की फलमक्खी से बचाव के लिए पश्चिमी राजस्थान में अक्टूबर माह के मध्य में 0.05 प्रतिशत एण्डोसल्फान का छिड़काव किया जाना चाहिए । तीन सप्ताह पश्चात् इसी अथवा अन्य स्पर्श कीटनाशक का छिड़काव करना होता है । चेफर भृंग के नियंत्रण हेतु सामूहिक रूप से प्रकाश पाश का प्रयोग प्रभावी रहता है । इनके रासायनिक नियंत्रण के लिए 2 प्रतिशत मिथाइल पैराथियान का बुरकाव किया जा सकता है । छालभक्षी कीट के प्रबंधन के लिए, उनके रहने के लिए बने सुराख में कील अथवा तार घुसाकर सुण्डी को नष्ट किया जा सकता है । रासायनिक नियंत्रण के लिए सुण्डी के आवास स्थल में 0.1 प्रतिशत डाइक्लोरवॉस अथवा अन्य स्पर्श कीटनाशक में डूबी रुई के फाये डाल कर उन्हें चिकनी मिट्टी से बंद कर देना चाहिए। आसपास की छाल पर 0.04 प्रतिशत मोनोक्रॉटोफॉस अथवा अन्य कीटनाशक का छिड़काव अथवा लेपन भी किया जा सकता है ।

बेर पर कीटनाशक दवाओं के अवशेषों के विश्लेषण संबंधी अध्ययन भी किये गये हैं । फलमक्खी के प्राकृतिक शत्रु कुछ परजीवी कीटों के बारें में भी पता लगाया गया है, जिनके द्वारा इस नाशीकीट का जैविक नियंत्रण संभव हो सकेगा । वर्तमान में बेर की फलमक्खी के विरुद्ध पौधों में विद्यमान जैव रासायनिक अवरोधक तत्वों के बारे में अनुसंधान किए जा रहे हैं, जो भविष्य में फलमक्खी अवरोधी प्रजाति विकसित करने में सहायक सिद्ध हो सकेंगे ।

अनार

अन्य अनार उत्पादक क्षेत्रों की तुलना में पश्चिमी राजस्थान के ज्यादातर बगीचों में अनार की तितली की क्षति वहुत कम है । यदाकदा माहू का प्रकोप होता है, जिसके नियंत्रण के लिए किसी भी अंतर्व्यापी (सर्वांगी) कीटनाशक का प्रयोग किया जा सकता है । वरुथी द्वारा आक्रमित अनार के लक्षण ज़िंक की कमी के लक्षणों से मिलते हैं । सर्वांगी कीटनाशक अथवा वरुथीनाशक के छिड़काव द्वारा इसका नियंत्रण किया जा सकता है । एरंडी की सुण्डी भी अनार के पौधों को क्षति पहुंचा सकती है, विशेषकर आरंभिक अवस्था में । क्षति दिखने पर इन्हें हाथ से पकड़ कर नष्ट किया जा सकता है, अथवा किसी स्पर्श कीटनाशक का प्रयोग कर के भी ।

गून्दा (लसोड़ा)

पश्चिमी राजस्थान में तैले को गून्दे का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाशीकीट माना जा सकता है । तैलों द्वारा स्रावित मीठे द्रव पर काली फफूंद पनप कर पौधों की भोजन बनाने की प्रक्रिया पर विपरीत असर डालती है । इस कीट को सर्वांगी कीटनाशक के प्रयोग द्वारा नष्ट किया जा सकता है ।

खज़ूर

खज़ूर में पत्तियों पर *पार्लेटोरिया* नामक स्केल कीट का प्रकोप प्रायः पाया जाता है। पानी की कमी की स्थिति में जड़ों तथा तनों के दीमक ग्रसित होने की आशंका रहती है । सूखे खज़ूर अथवा छुहारे में इल्लियों द्वारा क्षति पहुंचाना देखा गया है ।

बीमारियां

बेर

छाछ्या रोग

ओइडियम इरीसाइफोडस नामक कवक द्वारा उत्पन्न होता है । यह रोग अक्टूबर - नवम्बर महीने में फलों के विकास के समय होता है । प्रभावित फूलों की वृद्धि रुक जाती है व पकने से पहले ही गिरने लगते हैं । इससे पैदावार में काफी कमी हो जाती है । इसके नियन्त्रण के लिये कवकनाशी डाइनोकेप या कार्बेण्डाजिम या ट्राइडियोमोर्फ या मिथाइल थियोफेनेट के 0.1 प्रतिशत अथवा 0.2 प्रतिशत गंधक के घोल का छिड़काव रोग प्रारम्भ होने पर 2 - 4 बार 15 - 20 दिनों के अन्तराल में करना चाहिये । जुलाई - अगस्त में एक छिड़काव लाभदायक होता है । प्रतिरोधी किस्में जैसे काजरी गोला, जोगिया, मुण्डिया, रश्मि व जैड जी -3 का उपयोग करना चाहिये ।

काला पर्णदाग

यह रोग *आइजोरियोप्सिस इंडिका* नामक कवक से होता है । यह अक्टूबर - नवम्बर में ज्यादातर देखा जाता है । इस रोग में पत्तियां कालिख से भरे हुए गुच्छों की तरह दिखाई देती हैं । इसके नियंत्रण के

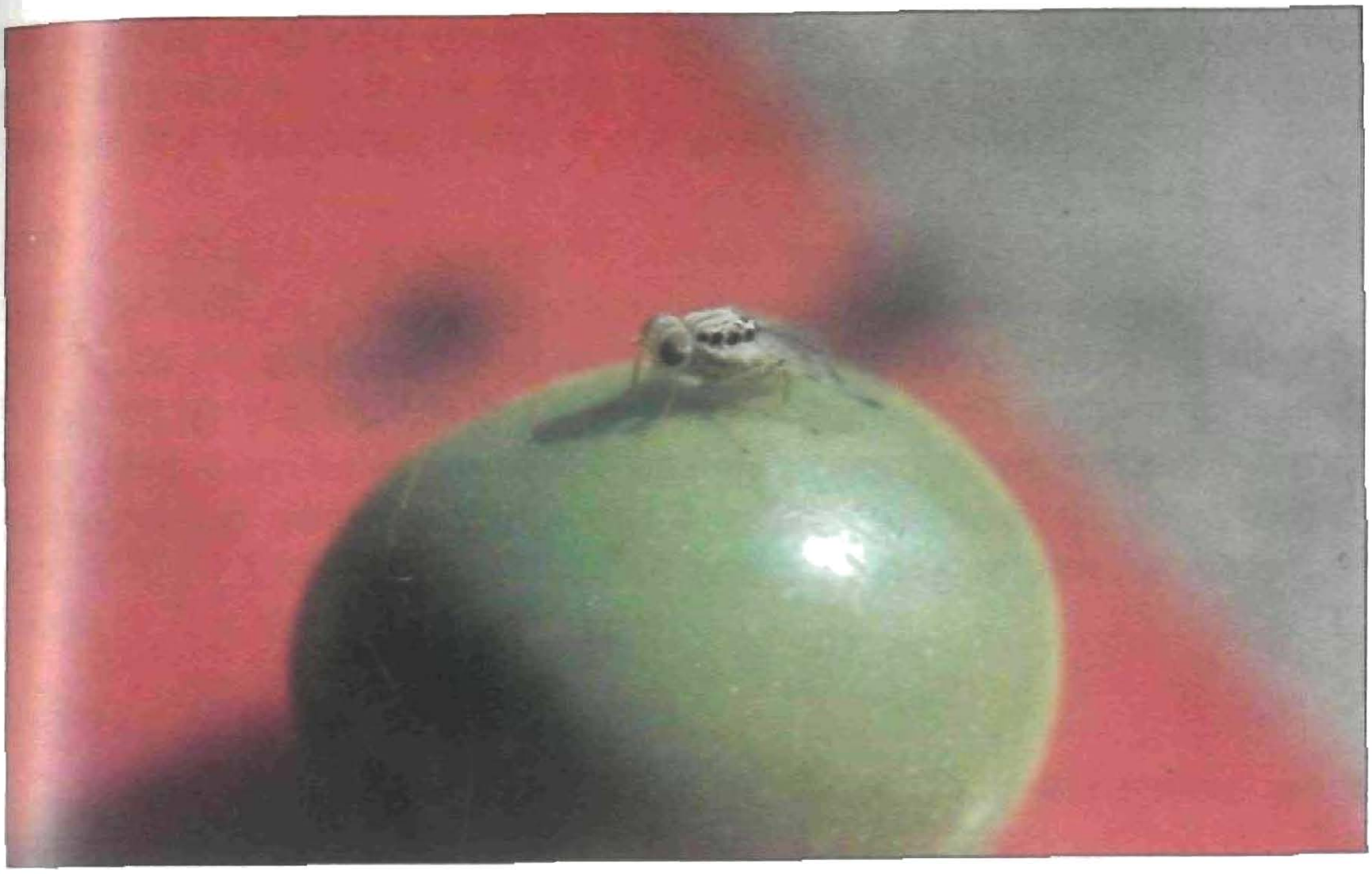

चित्र 9. बेर की फल मक्खी

चित्र 10. फल वृक्षों पर लगने वाला छाल भक्षी कीट

लिये केप्टाफोल अथवा कॉपर आक्सीक्लोराइड अथवा मेन्कोजेब के 0.2 प्रतिशत अथवा कार्बेन्डाजिम के 0.1 प्रतिशत घोल के 15 दिनों के अन्तराल पर 2 - 3 छिड़काव उपयुक्त पाए गये हैं । प्रतिरोधी किस्में जैसे *जैड जी-3, सफेदा रोहतक, सनौर-1* व *सुआ* इत्यादि को लगाना चाहिये ।

अनार

जीवाणु पर्ण-चित्ती

यह रोग *जेन्थोमोनास प्यूनिकी* नामक बेक्टीरिया से पैदा होता है । रोग ग्रसित पत्तियाँ गिर जाती है तथा पौधे की वृद्धि रुक जाती है । यह रोग मार्च से जुलाई में अधिक तापमान एवं कम आद्रर्ता के कारण अधिक फैलता है । रोकथाम के लिये फाइटोमाइसिन तथा स्ट्रेप्टोमाइसिन सल्फेट नामक प्रतिजैविक (एंटीबायटीक) का उपयोग काफी सफल रहता है । 250 - 500 पी पी एम मात्रा 15 - 20 दिन के अन्तराल में 2 - 3 बार छिड़काव करना उचित रहता है । यह रसायन कॉपर आक्सीक्लोराइड के साथ मिलाकर भी दिया जा सकता है ।

फल-चित्ती

यह विभिन्न प्रकार की कवक के द्वारा पैदा होता है, जिसमें *कोलेटोट्राइकम, आलटरनेरिया, सरकोस्पौरा, ड्रेसलेरा* एवं *सुडोसरकोस्पोरिला* प्रमुख कवक हैं । इसके अलावा फल-चित्ती रोग *जैनथोमोनास केमपसट्रीस* किस्म *प्यूनिकी* जीवाणु द्वारा भी होता है । फफूंद से होने वाले फल-चित्ती रोग को मेनकोजेंव, जीराम या कॉपर आक्सीक्लोराइड का 0.2 प्रतिशत घोल का छिड़काव फूल आने से प्रारम्भ करने व उसके बाद 15 दिन के अन्तराल में 2 - 3 छिड़काव करने से नियंत्रित किया जा सकता है ।

खजूर

ग्रेफिओला पर्ण-चित्ती (फाल्स स्मट)

यह रोग शुष्क व अर्द्धशुष्क क्षेत्रों में अधिक पाया जाता है । रोग पत्तियों व टहनियों पर होता है । पत्तियों पर छोटे छोटे गोल पीले भूरे रंग के दाने प्रकट होते हैं, जिसमें से केशसदृश संरचनाऐं व अंसख्य बीजाणु दानों के परिपक्व होने पर बाहर निकलते हैं । बीजाणु हवा द्वारा द्वितीयक संक्रमण करते हैं । यह रोग वर्षा ऋतु के बाद तेजी से बढता है । इसलिये एक छिड़काव मानसून प्रारम्भ होने से पहले व 3-4 छिड़काव अक्टूबर से प्रारम्भ कर देना चाहिये । फफूंदनाशक कॉपर आक्सीक्लोराइड 0.4 प्रतिशत या कार्बेन्डाजिम 0.2 प्रतिशत का छिड़काव 15 दिन के अन्तराल में करने पर रोग की कमी हो जाती है । पुरानी रोगी पत्तियों की छंटाई कर उन्हें जला देने से भी निवेश द्रव्य की मात्रा कम की जा सकती है । रोगरोधी किस्मों का उपयोग कर सकते हैं । इसी प्रकार खजूर की पत्तियों का काला-झुलसन रोग की भी रोक थाम फफूंदनाशक दवाइयों से की जा सकती है ।

आँवला

रोलीरोग

यह बीमारी *रेविनिलिया इम्बलिका फ्रुक्टीकोली* फफूंद से पैदा होती है । अधिक नमी में इस फंफूद को फैलने में आसानी होती है । रोग की प्रारम्भिक अवस्था में आंवले के फलों पर छोटे भूरे या काले रंग के धब्बे दिखाई देते हैं । बाद में धब्बों पर भूरे या काले रंग का चूर्ण देखा जा सकता है । धब्बों का आकार व संख्या फलों की वृद्धि के साथ बढता रहता है । विभिन्न रसायन जैसे क्लोरोथेलोनिल या मेन्कोजेब रोग के लक्षण प्रारम्भ होते ही 15 दिन के अन्तराल पर 0.2 प्रतिशत की मात्रा में 4 बार छिड़काव करने से उपचार किया जा सकता है । *चकैया, बनारसी, हाथीझूल, कृष्णा, एन ए 6* व *एन ए 7* किस्मों पर रोग कम पाया गया है ।

बेल

पत्ती धब्बा रोग

यह रोग *आल्टरनेरिया* नामक फंफूद से होता है । पत्तियों पर छल्लेनुमा गहरे भूरे रंग के अनिश्चित आकार के धब्बें दिखाई देते हैं । ग्रसित पत्तियां झुलस कर गिर जाती हैं । रोग का नियंत्रण कॉपर आक्सीक्लोराइड के 0.2 प्रतिशत घोल का छिड़काव 2-3 बार 15 दिन के अन्तर पर कर के किया जा सकता है ।

कृषि पद्धतियां

उद्यान-घास पद्धति

बेर के 6 गुणा 6 मीटर की दूरी पर संस्थापित बगीचे में परीक्षण हेतु धामन घास को लगाया गया तथा यह पाया गया कि इस से लगभग 33 क्विंटल घास तथा 25 कि.ग्रा. घास का बीज प्रति हैक्टेयर प्राप्त किया जा सकता है, जो एक अतिरिक्त आय के रूप में किसानों के लिये बहुत ही लाभप्रद होगा । वेर के पौधों तथा उपज पर इसका कोई प्रतिकूल असर नहीं देखा गया है । बेर से भी लगभग 30 कि.ग्रा. फल प्रति पौधा मिल गया था ।

शष्य - उद्यानिकी पद्धति

शष्य - उद्यानिकी पद्धति को अपनाने के लिये बेर के गोला किस्म के लिये पंक्ति से पंक्ति की दूरी 8 मीटर तथा पौधे से पौधे की दूरी 5 मीटर उपयुक्त पायी गयी है । दो पंक्तियों के बीच में दलहनी फसलें लेना सबसे उपयुक्त पाया गया । इससे लगभग 8 क्विंटल अतिरिक्त फसल की प्राप्ति हो जाती है, साथ ही ज़मीन के अन्दर वायुमण्डलीय नत्रजन का भी स्थापन होता है ।

फल मक्खी से प्रतिरोध के लिये प्रजनन

फल मक्खी बेर के फल को नुकसान पहुंचाने वाला एक प्रमुख कीड़ा है । बेर की विभिन्न प्रजातियों का मूल्यांकन करने के बाद यह पाया गया कि देसी किस्म *टीकड़ी* के फलों पर इस कीड़े का प्रकोप काफी कम होता है । इसके जैवद्रव्य की सहायता से वड़ी तथा शीघ्र फल पकने वाली किस्म तैयार करने हेतु संकर प्रजनन का कार्य आरंभ किया गया है । सेब तथा टीकड़ी के मेल द्वारा संकर प्रजाति का सफल उत्पादन किया जा चुका है । प्रथम पीढ़ी के संकर में उल्लेखनीय प्रतिरोधक क्षमता पायी गयी, लेकिन फलों के गुण वांछित स्तर के नहीं होने के कारण उनके सुधार की दिशा में प्रयास किये गये । इसके लिए उल्टे मेल की तकनीक को अपनाया गया। इस विधि द्वारा प्राप्त फल मक्खी अवरोधक प्रजाति का मूल्यांकन कार्य प्रगति पर है ।

बेर में जैव - वर्गीकरण का अध्ययन

कुल 59 प्रजातियों पर जैव-वर्गीकरण अध्ययन प्रारम्भ किया गया था । बाह्य आकार लक्षण तथा पत्ती में विद्यमान फ्लेवोनोइड समूह के यौगिकों के आधार पर इनमें आपस में समन्वय तथा भिन्नता स्थापित की गयी । 6 रासायनिक उपप्रजातियों को भी पहचाना गया । वाह्याकार गुणों के आधार पर 59 किस्मों की एक सारिणी तैयार की गयी । अध्ययनों के आधार पर काठ, उमरान तथा अजमेरी किस्मों के एक ही होने का अनुमान है । 4 किस्मों का भौतिको-रासायनिक अध्ययन भी किया गया । फल के विकास से पकने तक के सभी बदलावों का विस्तृत अध्ययन किया गया ।

फसलोपरांत तकनीकी

शुष्क क्षेत्र में जलवायु की विषमता के कारण फलों की आपूर्ति एक विशेष मौसम मे ही सम्भव हो पाती है । वर्ष पर्यन्त इनकी आपूर्ति बनाये रखने की दृष्टि से संस्थान में इनके परिरक्षण की दिशा में प्रयत्न किये गये, जिनके द्वारा बिना समय के फल की उपलब्धता तो होती ही है, साथ ही अधिक उत्पादित फलों का भी समुचित उपयोग हो जाता है ।

बेर

बेर के फलों से निम्नलिखित परिरक्षित पदार्थ बनाने की विधियों का निर्धारण किया गया :

स्क्वैश, जैम, मुरब्बा, बेर का अचार तथा सूखे बेर

अनार

अनार के फलों में सबसे बड़ी समस्या फलों के फटने की है । इस तरह के छोटे तथा फटे हुये फलों का परिरक्षण करके अधिक आमदनी प्राप्त की जा सकती है ।

इसके फलों से निम्नलिखित परिरक्षित पदार्थ बनाने की विधियाँ निर्धारित की गयी हैं ।

स्क्वैश, जेली तथा अनार दाना

खजूर

पश्चिमी राजस्थान की परिस्थितियों में खजूर के फल प्रायः जुलाई - अगस्त के महीनों में पक कर तैयार होते है और यही समय वर्षा का होता है । फल पकने के समय यदि वर्षा हो जाती है । तो इसके सारे के सारे फल सड़ कर खराब हो जाते हैं । इस नुकसान से बचने के लिए खजूर के फलों को "डोका" अवस्था में तोड़कर इनसे छुहारा तथा अन्य परिरक्षित पदार्थ बनाये जा सकते हैं । खजूर के फलों से निम्न पदार्थ बड़े ही आसान तरीकों से बनाये जा सकते हैं

छुहारा, पिंड खजूर, जैम तथा खजूर सान्द्रण

आँवला

इसके फलों में प्रचुर मात्रा (600-700 मि.ग्रा. प्रति 100 ग्राम) में विटामिन-सी पाया जाता है, जो इन फलों में ऐसे रूप में होता है, कि फलों को गर्म करने या उबालने पर भी नष्ट नहीं होता है । अतः इस गुणकारी फल के अन्दर पाये जाने वाले औषधीय गुणों को संरक्षित करके बाद में उपयोग किया जा सकता है । इस संस्थान में आवँलें के फलों से निम्न परिरक्षित पदार्थ बनाये गये हैं:

मुरब्बा, जैम, अचार तथा आँवला चूर्ण

बेल

आँवलें की तरह बेल भी औषधीय फल के रूप में शुष्क क्षेत्र में उगाया जाता है। इसके फल गर्मियों में पक कर तैयार होते हैं । इसके फलों से निम्न पदार्थ बनाने की विधियों का निर्धारण किया गया है :

मुरब्बा, स्क्वैश, जैम तथा बेल पाउडर

कैर व गूंदा

राजस्थान प्रदेश का मूल देशज माने जाने वाले ये फल यहां पर प्राकृतिक रूप से बहुतायत में पाये जाते हैं । यहां के मूल निवासी इसके फलों को कई प्रकार से प्रयोग में लाते हैं । इसके फलों से इस संस्थान में अंचार बनाने की विधि निर्धारित की गयी है ।

अधिक आय के लिए वैकल्पिक कृषि पद्धतियां

मरु क्षेत्र के विभिन्न जिलों के प्राकृतिक संसाधनों के सर्वेक्षण से ये तथ्य सामने आये हैं कि जलवायु की कठिन परिस्थितियां होते हुए भी यहां की 70 प्रतिशत आबादी फसल उत्पादन के कार्य में लगी हुई है, तथा प्रतिवर्ष यहां 90 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि में खरीफ व रबी फसलों की खेती की जाती है । किन्तु जलवायु की विषमतावश 4-5 वर्षो में केवल एक बार ही अच्छी फसल मिल पाती है । इस कारण यहां अधिकांश किसान गरीबी की सीमा रेखा से नीचे जीवन यापन के लिये विवश हैं तथा इन्हीं कारणों से विभिन्न प्राकृतिक संसाधनों का दोहन अनवरत गति से होता जा रहा है ।

विगत चार दशाब्दियों से भी अधिक के अनुसंधान कार्यों से इस संस्थान में फसलों के साथ सफलतापूर्वक उगाये जा सकने वाले फल वृक्षों, चारा, इमारती व जलाऊ लकड़ी देने वाले वृक्षों व घासों के बारे में जानकारी एकत्रित की गयी तथा उनके सह-उत्पादन के लिए अनेक उन्नत विधियों का विकास किया गया है, जिन्हें अपनाने से न केवल इस क्षेत्र के किसानों की आर्थिक दशा सुधारी जा सकती है, अपितु यहां के प्राकृतिक संसाधनों, जैसे जल, भूमि, वनस्पति, पशुधन इत्यादि के क्षरण को रोका जाना भी संभव है । इस प्रकार की मिलवां खेती के मुख्य बिन्दु निम्न है

बेर राजस्थान का एक महत्वपूर्ण फल वृक्ष है । इस राज्य में बेर व झड़बेरी के वृक्ष प्राकृतिक रूप में बहुतायत से पाये जाते हैं । इन बेरों के वृक्षों व झाड़ियों पर उन्नत किस्मों जैसे गोला व सेब की आंख चढ़ाना फलों की गुणवत्ता व उपज बढ़ाने की दृष्टि से बहुत उपयोगी पाया गया है । इससे किसान अपनी फसलों के उत्पादन के साथ - साथ बिना किसी विशेष प्रयास के बेर के फलों की उपज भी ले सकते हैं । अधिक लाभ के लिये सेब या गोला बेर के साथ फसलों की खेती व्यवस्थित रूप से करनी चाहिये । इसमें ध्यान देने योग्य बातें है :-

- एक बीघा खेत में बेर के 30 से 40 पौधों से अधिक न लगायें । इस हेतु कतार से कतार की दूरी 6 से 8 मीटर व पौधों से पौधों की दूरी 6 मीटर रखें ।
- बेर के साथ मिलवां खेती में दलहनी फसलें, जैसे ग्वार, मूंग-मोठ एवं चंवला का विशेष महत्व है । फसल चक्र में इन्हें आपस में बदलाव के साथ - साथ दो - तीन वर्ष के अन्तराल से तिल व बाजरा के साथ लेना लाभदायक पाया गया है । बेर के साथ चारोपयोगी घासों, जैसे धामण, सेवण आदि का समायोजन भी बहुत लाभदायक पाया गया है । इस प्रकार का समायोजन पशुपालन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।
- फसल की बुवाई के पूर्व मिट्टी पलटने वाले हल से दो वर्ष में एक जुताई करना भी बहुत लाभदायक है । प्रति वर्ष आड़ी सीधी जुताई कर तथा पाटा लगा कर बिजाई करने से फसल व फल उत्पादन दोनों में 25 से 30 प्रतिशत की वृद्धि पायी गई है ।

- बेरों की छंटाई पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये । वेर के पेड़ों को इस प्रकार का रूप देना चाहिये, जिससे फसलों की विभिन्न सस्य क्रियाओं, जैसे बिजाई, खरपतवार नियन्त्रण, कटाई इत्यादि में बाधा नहीं पड़े । बेर व फसल उत्पादन की उन्नत सस्य तकनीकों के पालन पर विशेष ध्यान रखना चाहिये जिससे दोनों की अधिक से अधिक उपज प्राप्त की जा सके ।
- बेर के फलों की उपज लेने के पश्चात् खेत में बकरियों को छोड़ा जा सकता है । ऐसा पाया गया है कि एक बीघा बेर के उद्यान में 125 से 150 वयस्क बकरियों की चराई कराई जा सकती है ।

इस प्रकार की खेती अपना कर इन क्षेत्रोंकी मृदाओं की उर्वराशक्ति को 25 - 30 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है । इसके अतिरक्त प्रति वर्ष खरीफ फसलों की औसतन 1 से 1.25 क्विंटल उपज तथा 300 से 400 किलो वेर व 200 से 300 किलो जलाऊ लकड़ी प्रति बीघा की दर से उत्पादन लिया जा सकता है ।

इसी प्रकार सिंचित क्षेत्रों में अनार के साथ भी फसलों का समायोजन करना लाभदायक है । यह क्षारीय व लवणीय भूमि में लगाया जा सकता है । इसकी दो उन्नत किस्में जालोर बेदाना व गणेश शुष्क एवम् अर्द्ध-शुष्क क्षेत्रों में उपयोगी पायी गयी हैं । मिलवां खेती में बेर के समान ही पौधो की संख्या 30 से 40 प्रति हैक्टेयर रखनी चाहिये । पौध एवम् फल संरक्षण पर, तथा सिंचाई व पोषक तत्वों के समुचित उपयोग पर विशेष ध्यान रखना चाहियें । इस प्रकार उन्नत तकनीकों के प्रयोग से फसल उत्पादन के साथ - साथ 8-10 क्विंटल प्रति हैक्टेयर की दर से अनार का उत्पादन भी सम्भव है ।

सस्य वानिकी

राजस्थान के मरु क्षेत्रों में खेजड़ी, रोहिड़ा, कूमठ, पीलू, कंकेड़ा, बबूल, गांगणी, मुराली, अरणी, हिंगोटा आदि वृक्षों एवं झाड़ियों का भी कृषि में विशेष महत्व है । इन क्षेत्रों में खेती के समग्र एवम् सतत् विकास के लिये इन वृक्षों एवम् अन्य देशों से लायी गयी उपयोगी प्रजातियों जैसे मोपेन, नूटान, होहोबा आदि के उचित समायोजन का बहुत महत्व है । इन वन प्रजातियों पर विस्तृत शोध कार्य किया गया है, तथा यह पाया गया कि खेजड़ी व रोहिड़ा सस्य वानिकी की दृष्टि से बहुत उपयोगी वृक्ष हैं । इनके साथ खरीफ व रवी की फसल बिना किसी बढ़वार में रुकावट के आसानी से ली जा सकती है । कूमठ, बबूल देशी बंवली, गांगणी, मुराली एवं अरणी को खेत की मेड़ पर आसानी से लिया जा सकता है । इस प्रकार बाहरी पशुओं से खेत के बचाव के साथ साथ जलाने की लकड़ी भी प्राप्त की जा सकती है । खेजड़ी व रोहिड़ा के पौधों की संख्या वर्षा के अनुपात में चयनित करनी चाहिये । यह संख्या 15 से 30 वृक्ष प्रति बीघा क्रमशः 300 से 450 मिली मीटर वर्षा क्षेत्रों के अनुसार इस मरुक्षेत्र में रखनी चाहिये । इन वृक्षों के साथ फसल उत्पादन के कई उपयोगी पहलुओं पर संस्थान में कार्य किया जा रहा है जैसे, पौधं संरक्षण, मृदा जैविक संवर्धन, पशु पालन क्षमता, मृदा उर्वरा शक्ति एवम् जल

संरक्षण आदि । प्रारम्भिक शोध कार्यो से इन पहलुओं पर लाभदायक परिणाम प्राप्त होने की सम्भावनाएं प्रबल हुई हैं ।

मरु क्षेत्र के 250 मिली मीटर व उससे कम वर्षा वाले क्षेत्रों में पशुपालन की महत्ता विशेष बढ़ जाती है । इन क्षेत्रों में नूटान व मोपेन के वृक्षों का विशेष महत्व है । इन्हें चारोपयोगी घासों, जैसे सेवण, धामन आदि के साथ लेना लाभदायक है । जैसलमेर, बीकानेर, बाड़मेर जिलों व जोधपुर के कुछ क्षेत्रों में चारा-वानिकी के लिये इन वृक्षों एवम् घासों की विशेष उपादेयता है ।

फसलों व चारोपयोगी घासों की पट्टियों में खेती

हमारे मरुस्थल का लगभग 65 प्रतिशत भू-भाग रेतीले टीबों से ग्रसित है । इस क्षेत्र में जमीन ऊंची - नीची व वायु एवम् जलक्षरण समस्या से विशेष रूप से प्रभावित है । इन क्षेत्रों में मृदा उत्पादकता बनाये रखने के लिये 0.75 से 1 मीटर के उर्ध्वढ़लान के अन्तराल से 1.5 से 2 मीटर चौड़े वानस्पतिक अवरोधक लेना उपयोगी पाया गया है । ये वानस्पतिक पट्टियां चारोपयोगी घासों, जैसे अंजन, धामन या सेवण की ली जा सकती हैं । जिन कृषकों के लिये इन पट्टियों को बाहरी पशुओं से बचाना सम्भव नहीं है, वे वूर, ग्रामण, मूरठ, मूंज आदि घासों की पट्टियां ले सकते हैं । इस विधि को अपनाने से खेत के पानी व मिट्टी को खेत में रोका जाना सम्भव है । वानस्पतिक अवरोधकों के अलावा कुछ खेतों में किसान बाकायदा घास व फसलों की मिलवां खेती भी कर सकते हैं ।

इस प्रकार की खेती मृदा की उपजाऊ क्षमता को बढ़ाने की विलक्षण क्षमता रखती है तथा पशुओं के लिये चारे की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है । ऐसी खेती में 2 : 1 के अनुपात में फसल एवम् घास की पट्टियां वायु के प्रवाह की विपरीत दिशा व जमीन के ढ़लान की स्थिति को ध्यान में रख कर ली जा सकती हैं ।

पट्टियों की चौड़ाई 5 से 7 मीटर तक रखनी चाहिये । 4 से 6 वर्ष के अन्तराल से घास व फसलों की पट्टियों में बदलाव करते रहना चाहिये इस विधि में अंजन घास व खरीफ की फसलें जैसे :- मूंग, मोठ, ग्वार, बाजरा, तिल आदि को पट्टियों में लिया जा सकता है । इस प्रकार की खेती में 25 - 30 प्रतिशत अधिक फसल उत्पादन के साथ साथ 2.0 से 3.0 वयस्क पशु इकाई प्रति हैक्टेयर की दर से पशु पालन भी सम्भव है । इस संस्थान में उपरोक्त आधुनिक कृषि के प्रयोगों का आर्थिक आकलन भी किया गया है । कृषि वानिकी, कृषि उद्यानिकी, कृषि तृणकी, चारा वानिकी एवं फसल उत्पादन में लाभ व खर्च का अनुपात क्रमशः 1.69, 1.46, 1.87, 1.66 एवम् 1.24 पाया गया । यह अनुपात स्पष्ट रूप से परिलक्षित करता है कि इन उन्नत विधियों के अपनाने से इस क्षेत्र के प्राकृतिक संसाधनों में वृद्धि ही नहीं, अपितु इस क्षेत्र की कृषि में निरन्तरता लाना भी सम्भव है ।

उपरोक्त विवेचन से ये तथ्य सामने आते हैं कि राजस्थान के मरु प्रदेश में बहुवर्षीय उपयोगी वनस्पतियों का फसलों के साथ उचित समायोजन कर इस क्षेत्र की शुष्क खेती को

आर्थिक, सामाजिक व भौगोलिक स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है । इस क्षेत्र में कृषि वानिकी, कृषि उद्यानिकी, कृषि तृणकी व चारा वानिकी जैसी उपयोगी कृषि पद्धतियों को अपनाने से यहां के पशु उत्पादन में भी 40 से 50 प्रतिशत तक वृद्धि करना सम्भव है । साथ ही इन योजनाओं के अपनाने से इस क्षेत्र के प्राकृतिक संसाधनों के क्षरण को रोका जा सकेगा, जिससे पर्यावरण में सुधार भी सम्भव है । किन्तु इस प्रकार की खेती के प्रचार व प्रसार को बढ़ावा देने के लिये आवश्यक है कि यहां के कृषकों को इनके बारे में पूरा ज्ञान उपलब्ध करवाया जाए तथा साथ ही इन उपयोगी वृक्षों एवम् घासों के बीज एवम् पौध इत्यादि समय पर उपलब्ध करवाये जाएं । ये सभी योजनाएं जल संग्रहण क्षेत्र विकास या मरुस्थल विकास कार्यक्रमों की वृहद् योजनाओं के अन्तर्गत लेने से इस क्षेत्र के निवासियों को अधिक लाभ पहुंचाया जा सकता है ।

चित्र 11. कृषि - वानिकी पद्धति : वृक्षों के मध्य फसल की कतारें

चित्र 12. खड़ीन में खेती : मरुक्षेत्रों में प्राचीन काल से प्रचलित कृषि पद्धति

जल संसाधनों का विकास

भूतल जल

किसी क्षेत्र के तालाबों, झीलों, टांकों तथा नदी - पथों में संचित अपधावन वहाँ का भूतल जल संसाधन कहलाता है । इस संचित जल की प्रमात्रा वहाँ होने वाली वर्षा के वितरण तथा भूतल की प्रकृति पर निर्भर करती है । यह जल पीने तथा फसलों की सिंचाई के काम में आता है ।

तालाबों, झीलों, तथा टाँको में संचित जल को जल की सतह के अभिलेखन तथा स्तर से सम्बन्धित आयतन, जो वहाँ के सर्वेक्षण तथा स्थलाकृति पर निर्भर करता है, से नापा जाता है । नदी - नालों के लिये पानी के तल तथा बहाव का सम्बन्ध क्रम निर्धारण वक्र विशेष जो इस क्षेत्र के लिये किये गये कई अवलोकनों पर आधारित होता है, से ज्ञात किया जाता है । सरिता के ऊंचाई वाले क्षेत्र की बहाव स्थिति का असर जलाशयों में संचित होने वाली प्रमात्रा पर पड़ता है ।

स्वस्थाने संचयन

वर्षा के कुछ जल को उसी स्थान पर संचित किया जाये, जहाँ वर्षा होती है, तो वह वहुत उपयोगी रहता है । यह जल सीधा पौधों को मिल जाता हैं, क्योंकि इसकी उद्वाष्पन द्वारा हानि नहीं होती है । परन्तु इसके लिये वहाँ की स्थिति को इसके उपयुक्त बनाने के लिये कुछ सहायक रूपान्तरण करने पड़ते हैं, इसलिये स्वस्थाने संचयन चरागाहों, फलोद्यानों तथा वन क्षेत्रों के लिये उपयुक्त है ।

शुष्क भूमि तथा सूखा उन्मुख क्षेत्रों में समोच्य उथली नालियाँ, छोटे गढ्ढे सूक्ष्म जलग्रह जल संग्रहण आदि अपधाव के स्वस्थाने संचयन की प्रमाणित तकनीकें हैं । सूक्ष्म - जलग्रह में जलग्रह के परिमाण को छोटा करने पर अपधाव का प्रतिशत बढ़ जाता है । लघु जलोत्सारण क्षेत्र (5 हैक्टेयर से कम) वर्षा का 10 से 15 प्रतिशत अपधाव उत्पन्न कर सकता है । लगभग समतल भूमि 0.5 प्रतिशत ढ़ाल 13.3 से 32.1 प्रतिशत अपधाव उत्पन्न करती है, जबकि 5 प्रतिशत ढ़ाल वाला जलग्रह 36.1 से 45.4 प्रतिशत तथा 10 प्रतिशत ढ़ाल वाला 32.65 से 44.3 प्रतिशत अपधाव सूक्ष्म - जलग्रह क्षेत्र के आधार पर उत्पन्न करता है । 250 से 600 मि.मी. वर्षा से औसतन 30 से 60 प्रतिशत अपधाव उत्पन्न किया जा सकता है ।

भूतल संचयन

प्रायः अकाल पीड़ित क्षेत्रों में पानी को तालाबों, टाँकों, एनीकटों, रिसन तालाबों, रोधी-बाँधों आदि में संचित करने की प्राचीन परम्परा है । परन्तु वर्षा की अनिश्चितता, संचयन में सादावरण तथा अधिक उद्वाष्पन और आश्च्याव हानि ने इस जल का प्रर्याप्त उपयोग नहीं होने दिया

है । सारणी-1 में सूखा उन्मुख क्षेत्रों के लिये अपधाव का आगणन तथा संचयन - संरचनाओं की क्षमता दर्शायी गयी है :

सारणी-1 : सूखा उन्मुख क्षेत्रों में सतह के अपधाव के संचयन के लिये मार्गदर्शन

वर्षा क्षेत्र (मि.मी.)	भू भाग का प्रकार	अपधाव गुणांक	औसत जल क्षमता, प्रति है.(मी.^{3})	संचयन संरचना का प्रकार
250 तक -	चट्टानीय/कंकरीली अपक्षरणित सतह	0.1 - 0.3	625	तालाब, टाँका
	रेतीले टीलों के बीच का क्षेत्र	0.1 - 0.2	375	तालाब
250-400	चट्टानीय/कंकरीला	0.2 - 0.3	813	एनिकट,रोधीबाध
	चट्टानीय	0.3 - 0.4	1140	रोधी बाँध, रिसन तालाब
	रेतीला मैंदान	0.1 - 0.3	650	तालाब, टाँका
	रेतीले टीलों के बीच का क्षेत्र	0.2 - 0.3	813	टाँका
500-600	पर्वत और चट्टानीय उच्च भूमि	0.4 - 0.6	2500	एनिकट, रोधी बाँध, रिसन तालाब
	रेतीला/कछारी मैंदान	0.2 - 0.3	1200	टाँका
	कंकरीली सतह	0.4 - 0.5	2250	एनिकट, रोधी बाँध, रिसन तालाब
600 से उपर	पर्वत और चट्टानीय उच्च भूमि	0.5 - 0.7	3600	एनिकट, रोधी बाँध, रिसन तालाब
	कछारी मैंदान	0.2 - 0.4	1800	टाँका
	कंकरीली सतह	0.5 - 0.6	3300	रोधी बाँध

यह प्रस्तावित किया जाता है कि जलग्रह में मिलने वाले जल के एक तिहाई भाग को भूतल - संचयन संरचनाओं में संचित करना चाहिये । शेष दो तिहाई अपधाव को जलग्रह के बाहर बहने दिया जाना चाहिये जिससे वह अनुस्रोत के उपयोग में आ सकें तथा भूजल का पुनः प्रवाह कर सकें । इसके कुछ भाग को स्वस्थाने संचयन के काम में भी लिया जा सकता है ।

संचयन संरचनाएं

प्राचीन काल से अपधाव का भूतल संचयन विस्तृत रूप से किया जा रहा है । इन संरचनाओं से मिलने वाला जल पीने तथा पौधों के जीवन रक्षा के लिये वर्षा के दो महिने बाद से पूरे साल भर तक काम में लिया जाता है । यह सब जलग्रह के लक्षण, वर्षा की

मात्रा, तीव्रता तथा अवधि पर निर्भर करता है । निम्न प्रकार की संचयन संरचनाओं की सूखाग्रस्त क्षेंत्रों में सिफारिश की जाती है ।

टांका

साधारणतया वर्ताकार टांका मितव्ययी संरचना है तथा अधिक मज़बूत भी रहता है, क्योंकि इसमें जल आरीय दबाव, वक्रतल पर समान रूप से लक्ववत पड़ता है । इसका सफल अधिष्ठापन जगह का चयन, मुख्यतया जलग्रह लक्षण जैसे कि आकार, स्थलाकृति, मिट्टी का प्रकार, वनस्पति आदि पर निर्भर करता है । चयनित या कृत्रिम रूप से बनाये गये जलग्रह का आकार इतना होना चाहिये, कि टांकें में पर्याप्त पानी आ सके, साथ ही मृदा - हानि भी कम हो । जलग्रह का क्षेत्रफल निकालने के लिये निम्न समीकरण को काम में लिया जा सकता है :

जलग्रह का क्षेत्रफल x आत्रित वर्षा x अपधाव गुणांक =

संचयन गुणांक x गहराई x टॉके का अनुप्रस्थछेद क्षेत्रफल

टाँके में दरारें न पड़ें तथा च्याव न हो, इसके लिए सीमेन्ट कंक्रीट 22 से. मी. तथा दीवारों पर सीमेन्ट लेप 15 मि.मी. होना चाहिये । टाँके में पानी अन्दर जाने के पहिले साद - अवरोधक बनाना वहुत उपयोगी रहता है ।

तालाब - नाडी

ये वन्ध वनाकर या मिट्टी खोद कर, सूखा - उन्मुख क्षेत्रों में पानी की कमी को कम करने के लिये, वर्षा के पानी का संचयन करने के लिये बनाये जाते है । इनके दो संघटक, जलग्रह क्षेत्र तथा जल को संचित रखने का क्षेत्र है । इनका अनुपात वर्षा और पर्यावरण के अनुसार वदलता है । तालाब में उद्वाष्पन और आश्च्याव हानि कम करने के लिये निम्न सारणी में अनुकूलतम तालाव के लक्षण वताये गये हैं:

भू आकृति	अनुकूलतम गहराई (मी.)	अनुकूलतम सतह (है.)	जल की उपलब्धता (महीनों में)
रेतीला मैदान	2.0	2.7	8.3
जटिल टीले	2.5	2.9	4.8
नयी कछारी	5.0	16.1	12.0
पुरानी कछारी	3.0	9.6	12.0
चट्टानी/कंकरीला शैलपद	6.0	12.7	12.0

इनके अलावा इन संरचनाओं के साथ साद-अवरोधक लगाकर मिट्रटी का अंदर जाना कम किया जा सकता है । ये थैलों में मिट्रटी भर कर, पत्थर, शाखाओं की लकड़ी या स्थानीय वस्तुओं से बनाया जा सकता है ।

एनीकट/रोधी बाँध

एनीकट/ रोधी बाँध वह संरचना है, जो स्थानीय जलग्रह से आने वाले जल को रोकता है तथा अनुकूल उपयोग के लिये संचित करता है । संरचना के पीछे रोके गये जल को उद्धहन सिंचाई या पीने के काम में लाया जा सकता है । ये संरचनाएं नीचे की तरफ के कुँओं का पुनःप्रभरण करने तथा डूब वाले क्षेत्र में, शुष्क ऋतु में खेती के काम में आती हैं । एनीकट/ रोधी बाँध के मुख्य संघटक मिट्टी का बाँध तथा चिनाई से बनाया गया अधिपल्वन मार्ग होते हैं । इन संरचनाओं का आकल्पन वर्षा के 50 साल के आवर्ती - अन्तराल पर आधारित होता है ।

रिसन तालाब

ये भूतल के अपधाव के छोटे संचयन में भरने तथा रिसन द्वारा भूजल को पुनःप्रभरण करने के लिये बनाये जाते है । इन संरचनाओं को बनाने के लिये जलग्रह क्षेत्र, होने वाले अपधाव, आकल्पित संचयन तथा इससे कितना क्षेत्र लाभान्वित होगा, का ध्यान रखा जाता है ।

भूजल का पुनःप्रभरण

उपरोक्त संरचनाएं भूजल पुनःप्रभरण को बढ़ाती हैं । एक अध्ययन के अनुसार पश्चिमी राजस्थान के एक बरसाती नाले पर एनीकट बनाने से तीन साल में भूजल पुनःभरण में 35 प्रतिशत तक की बढ़त हुई । सामान्यतया संचयन का औसतन 50 प्रतिशत पुनःभरण, सामान्य वर्षा के वर्ष में हो जाता है । अशिताश्मिक रचना वाले रिसन तालाबों का असर 1.5 से 2 कि.मी. क्षेत्र में रहता है तथा ये करीब 1.5 लाख घन मीटर पुनः प्रभरण, सामान्य वर्षा वाले वर्ष में कर देते हैं । सामान्यतया ये संरचनाये 32000 से 1.12 लाख घन मीटर का पुनःप्रभरण कर देती हैं, जो संचयन क्षमता का करीब 50 प्रतिशत हैं

भूजल

भूमिगत जल, जो मृदा को पूर्ण संतृप्त कर दे, उसे भूजल कहते हैं । तथा ऐसे जल-पिण्ड के ऊपरी तल को जल स्तर कहते हैं । असंतृप्त क्षेत्र में क्षेत्र-धारिता से अधिक जल को गुरुत्व-जल कहते हैं, क्योंकि यह गुरुत्व बल द्वारा नीचे, जलस्तर तथा भूजल की तरफ रिसता रहता है । कई अवस्थाओं में अधिश्रित जल-स्तर पाया जाता है । यह आपेक्षिक अनतिवेध्य स्तर पर होता है, जहाँ जल अधिक मात्रा में मिट्टी को संतृप्त करने एकत्रित हो जाता है तथा वहाँ रुका रहता है, क्योंकि यह वनस्पति की जड़ों से नीचे होता है । बहुत ही

शुष्क स्थिति में मिट्टी की ऊपरी सतह के चूषण से जल का कैशाल-रोह, जलस्तर से हो जाता है । अतः यह वाष्पीउतस्वेदन के लिये उपलब्ध हो जाता है ।

भूजल सूखा उन्मुख क्षेत्रों के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण संसाधन है । कूप और नल-कूप, शैलिक प्रकृति तथा गुणवत्ता के अनुसार सीमित से पर्याप्त मात्रा में जल प्रदाय करा सकते हैं । सूखागत क्षेत्रों में भूजल संसाधन को विवेकपूर्वक तथा प्राथमिकता के आधार पर उपयोग किया जाना चाहिये । इन क्षेत्रों के लिये भूजल के सम्बन्ध में निम्न मार्गदर्शन दिया जाता है

वर्षा क्षेत्र (मि.मी.)	भूजल क्षमता (घनमी./ है)	गुणवत्ता
250 से कम	30 से कम	खारा/मीठा गोह में
250 - 400	30 - 50	"
400 - 600	50 - 150	अच्छा
600 से ऊपर	150 से ऊपर	अच्छा

परती भूमि एवं समस्याजनक जल का प्रबन्ध

परती भूमि वह भू-भाग है, जो अवह्रासित हो गया है तथा बिना किसी उपयोग के बेकार पड़ा है । परती भूमि को मुख्य रूप से दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है : (1) प्राकृतिक रूप से अवह्रासित तथा (2) मानवीय क्रियाओं से अवह्रासित । लवण एवं क्षारीयता से ग्रस्त, उथली, कंकड़वाली तथा टिब्बेदार रेतीली भूमियां प्राकृतिक परती भूमि की श्रेणी में आती हैं । इन भूमियों पर कुछ विशिष्ट प्रकार की वनस्पतियाँ, विशिष्ट तकनीक से ही उग पाती हैं । इनके प्रबन्ध की तकनीक का वर्णन अन्य अध्यायों में किया गया है ।

मानवीय क्रियाओं से अवह्रासित भूमियाँ, जिन्होनें परती भूमि का रूप ले लिया है, इनमें प्रमुख हैं अधिक कार्बोनेट (तैलीया) पानी की सिंचाई से बनी क्षारीय भूमियाँ, औद्योगिक प्रदूषित जल के फैलाव तथा खनन एवं खान के मलबे के फैलाव से अवह्रासित भूमियाँ । इन परती भूमियों पर फसल उगाना, घास, पेड़ या झाड़ियॉ लगाना एक चुनौती भरा कार्य है । काजरी में पिछलें कुछ वर्षो में इन अवह्रासित भूमियों के सुधार व प्रबन्ध की तकनीक विकसित की गई है । अवह्रासित भूमियों के निर्माण का कारण, भौतिक व रासायनिक गुण तथा प्रबन्ध की तकनीक का विवरण यहां दिया जा रहा है :

तैलीया पानी की सिंचाई से बनी क्षारीय भूमियाँ

रुक्ष एवं अर्धरुक्ष क्षेत्रों में भूमिगत जल में लवणों की मात्रा प्रचुरता में होती है । अन्य किसी स्रोत से जल उपलब्ध न होने के कारण, सिंचाई के लिए इन समस्याजनक जल स्रोतों पर ही निर्भर रहना पड़ता है । लवणों की मात्रा एवं किस्म के अनुसार पानी को लवणीय अथवा अधिक कार्बोनेट (तैलीया) में वर्गीकृत किया जाता है । लवणीय पानी में कुल लवणों की मात्रा ज्यादा होती है । इनमें क्लोराइड व सल्फेट आयन्स की मात्रा अधिक तथा कार्बोनेट, बाई-कार्बोनेट आयन्स की मात्रा कम होती है । जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अधिक कार्बोनेट पानी में कार्बोनेट व बाई-कार्बोनेट आयन्स प्रचुर मात्रा में तथा केलशियम व सल्फेट कम मात्रा में होते हैं । इस प्रकार के पानी से सिंचाई करने पर मिट्टी में लवणों की मात्रा तो कम एकत्रित होती है, परन्तु क्षारीयता का अत्यधिक प्रभाव हो जाता है । मिट्टी कठोर हो जाती है और बरसात एवं सिंचाई के जल का रिसाव कम हो जाता है । बीजों का अंकुरण तो हो जाता है, परन्तु पौधे सतह पर पपड़ी बनने के कारण बाहर नहीं निकल पाते । मिट्टी सख्त होने के कारण पौधों की जड़े गहरी नहीं जा पाती हैं । इससे पौधों का विकास, वृद्धि, फूल व फल बनने तक की क्रियाओं पर विपरीत प्रभाव पड़ता है । खेतों में फसल की पैदावार घट जाती है । किसान अन्ततः ऐसी भूमि पर खेती करना बन्द कर देते हैं ।

पश्चिमी राजस्थान के भू-जल से सिंचित सभी क्षेत्रों में यह समस्या पायी जाती है । परन्तु बाड़मेर जिले में बालोतरा - सिवाना, जोधपुर जिले में झंवर - डोली, पीपाड़, बिलाड़ा, साथीन, पाली जिले के सोजत, मारवाड़ -खारची, जालोर जिले के भीनमाल - आहोर तथा नागौर जिले की

परबतसर, मकराना, डेगाना क्षेत्र में यह समस्या विकराल रूप धारण किये हुए है । एक अनुमान के अनुसार 50 हजार हैक्टेयर सिंचित भूमि परती भूमि में परिवर्तित हो गई है ।

प्रबन्धन तकनीक

कार्बोनेट पानी सिंचाई से निर्मित क्षारीय भूमियों को सुधारने के लिए जिप्सम, पायराइट आदि सुधारक काम में लिए जाते हैं । राजस्थान के शुष्क क्षेत्रों में जिप्सम ही सबसे अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसकी मृदा में रासायनिक क्रिया धीमे - धीमे होती है । केलशियम व सल्फेट आयन्स जिनकी सिंचाई के पानी में कमी के कारण यह समस्या उत्पन्न होती है, जिप्सम से उपलब्ध होते हैं । जिप्सम का पश्चिमी राजस्थान में ही खनन किया जाता है, अतः यह उचित मूल्य पर आसानी से उपलब्ध हो जाती है ।

जिप्सम की मात्रा का निर्धारण, मिट्टी व पानी की रासायनिक जाँच के आधार पर तय किया जाता है । अनेक किसानों के खेतों पर जिप्सम का मृदा एवं फसल पर अध्ययन के आधार पर जिप्सम की मात्रा के निर्धारण के लिए निम्न दिशा निर्देश तय किये गए :

जिप्सम (टन/ हैक्टेयर)= 100 प्रतिशत मृदा की जिप्सम आवश्यकता + पानी में 5 मी.इ. प्रति लीटर से अधिक कार्बोनेट (आर एस सी) के लिए आवश्यक जिप्सम

सामान्यतया जिप्सम की मात्रा 6 से 12 टन प्रति हैक्टेयर देनी होती है । जिप्सम की निर्धारित मात्रा खेत में बरसात से पहले बुरक दें तथा हल द्वारा मिट्टी में अच्छी तरह से मिला दें । बरसात का पानी रेत में ही रोकने का प्रयास करें । इस प्रकार मिट्टी के भौतिक व रासायनिक गुणों में सुधार प्रारम्भ हो जाता है । रबी में गेहूं, रायड़ा की फसल सामान्य तरीके से ली जा सकती है । इस प्रकार जिप्सम उपचार से मृदा में क्षारीयता कम हो जाती है । मिट्टी के ढ़ेले नरम व आसानी से टूटने वाले हो जाते हैं, जल रिसाव बढ़ता है तथा पहले वर्ष में हल्की परन्तु दूसरे वर्ष में अच्छी फसल ली जा सकती है । उपचारित करने के पश्चात् जिप्सम का प्रभाव सिंचाई के पानी में कार्बोनेट की मात्रा के अनुसार 3 से 5 वर्ष तक रहता है ।

तालिका 1: कार्बोनेट पानी से सिंचित मृदा के अभिलक्षण

गांव	सिंचाई का पानी		सिंचित मृदा		विद्युत चालकता
	विद्युत वरलकरतर डे.मी./मी.	आर.एस.सी मी.ई./ली.	एस.ए.आर.	पी.एच.मान	डे.सी. / मी.
बागोरा	1.9	5.8	27.6	9.2	0.5
दुमाडिया	2.1	11.8	33.9	9.4	0.6
मेली	2.9	13.8	35.7	9.5	1.1
कुशीप	5.9	13.3	37.7	9.3	0.5
साथीन	7.0	3.9	31.8	9.6	0.2

तालिका-2: जिप्सम उपचार का मृदा पी एच मान व एस ए आर पर प्रभाव

जिप्सम टन / हैक्टर	प्रथम वर्ष			द्वितीय वर्ष		
	मृदा गहराई (से.मी.)	पी.एच	एस.ए. आर.	मृदा गहराई (से.मी.)	पी.एच.	एस.ए.आर.
24.6	0-5	8.0	10.4	0-10	8.1	10.4
	5-10	7.5	16.6	10-20	8.4	10.7
14.2	0-5	8.3	27.9	0-10	8.3	6.4
	5-10	8.4	34.8	10-20	8.3	7.7
12.2	0-5	7.	10.6	0-10	8.5	18.4
	5-10	7.9	16.2	10-20	8.7	8.3
6.6	0-10	8.1	28.3	0-10	8.9	14.9
	5-10	8.4	22.8	10-20	8.8	9.4
0	0-5	8.7	30.7	0-10	9.0	52.2
	5-10	8.5	25.3	10-20	9.0	34.2

तालिका -3 जिप्सम उपचार से गेंहू तथा रायड़ा की उपज पर प्रभाव

जिप्सम टन/हेक्टर	प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष
	गेंहू क्विंटल/ हैक्टर	
14.2	7.2	26.1
6.6	5.9	20.8
0	0.6	1.9
	रायड़ा क्विंटल/ हैक्टर	
24.6	1.8	20.0
12.2	1.5	8.0

चित्र 13. चूना पत्थर खदान प्रभावित भूमि का पुनरुत्थान

चित्र 14. जिप्सम उपचारित भूमि पर सफलतापूर्वक फसल उत्पादन

खनन प्रभावित भूमि का पुनरुत्थान

किसी स्थान पर भूतल खनन का सीधा असर वनस्पति के विकास, मृदा उच्छेद तथा मिट्टी की सघनता पर पड़ता है । इससे भूमि के कटाव और अवसाद में वृद्धि, भूतल तथा भूजल रासायनिकी में परिवर्तन तथा स्थल के सौन्दर्य में कमी हो जाती है । इसके अलावा भू-भाग के दुर्गम ढाल पर खिसकने की जोखिम बढ़ जाती है ।

भारतीय मरुस्थल की अर्थ व्यवस्था में जिप्सम तथा चूना - पत्थर के खनन की अहम् भूमिका है । परन्तु जिप्सम और चूना-पत्थर के अव्यवस्थित खुले खनन तथा पर्यावरण सुरक्षा के उपाय काम में नहीं लेने के कारण भूमि संसाधन का क्षरण हुआ है, यथा प्राकृतिक वनस्पति का विनाश, समतल भूमि का विषम भूतलरूप, वर्षा के जल संचयन में कमी, मृदा के रासायनिक एवं भौतिक गुणों में असामान्य परिवर्तन, भू-पर्पटी तथा मिट्टी का अपक्षरण, आदि । ऐसे अवह्रासित भू-भाग का शुष्क क्षेत्रों में पुनरुत्थान करना, विशेष कर रुक्ष पर्यावरण में, तथा उपयुक्त तकनीकी के अभाव में, चुनौती भरा कार्य हैं । इस उद्देश्य से तकनीक विकसित की गई है । इस तकनीक में विभिन्न वनस्पति आवरण के द्वारा भू-भाग को आच्छादित करना, मृदा पर्यावरण सुधारना तथा लगातार पानी तथा उर्वरक दिये बिना तथा जानवरों से पूर्ण सुरक्षित किये बिना अनुकूल बनाकर पारिस्थिकीय स्थिरता प्रदान करना सम्मिलित है ।

वर्षाजल संग्रहण, खेत की मिट्टी, गोबर की खाद तथा मेट मिलाकर मृदा उच्छेद का रूपान्तरण तथा सही जाति के पौधों का अनुकूलतम मिलान करके इस उद्देश्य को प्राप्त किया गया है । वर्षा जल संचयन के लिए अर्धचन्द्राकार सीढ़ीनुमा रूप में क्यारियां, छोटे जल ग्रहण, तथा धोरे बनाने की विधियाँ काम में ली जा सकती है । खनन बंजर भूमि के पुनरुत्थान के लिये वनवर्धकीय गोचर पद्धति का आकल्पन किया गया है । इस पद्धति से वहाँ के स्थानीय निवासियों की ज़रुरतें पूरी हो सकेंगी

मृदा रासायनिक लक्षण

शीर्ष-मृदा और खदानों के मलबे में कुछ आश्चर्यजनक भिन्नता हैः खदानों के मलबे का पी एच मान 7.8 तथा विद्युत संवाहिता 1.79 - 2.21 ममहोस प्र.से.मी. है, जबकि शीर्ष-मृदा की विद्युत संवाहिता 0.80 ममहोस प्र.से.मी., जलधारिता 25 -28 प्रतिशत तथा आर्द्रता तुल्यांक 3.1 - 4.0 प्रतिशत होती है । खदानों के मलबे में जैव-कार्बन बहुत ही कम (0.01 -0.14 प्रतिशत) होता है । दोनों स्थलों के शीर्ष-मृदा और खदानों के मलबे के रासायनिक विश्लेषण से पता चलता है कि सोडियम, पोटेशियम, कैलशियम, लोहा, मैगनेशियम, तथा बोरान तत्व पर्याप्त हैं, तथा कैलशियम, मैगनेशियम से अधिक है । चूना-पत्थर के खदान के मलबे तथा जिप्सम की खान की शीर्ष-मृदा में अधिकतम कैलशियम पाया गया । जिप्सम खदान के मलबे तथा चूना-पत्थर खान की शीर्ष-मृदा में मैगनेशियम की अधिकता देखी गयी । साधारणतया जिप्सम तथा चूना-पत्थर के खदान मलबों में फॉस्फोरस 0.01 - 0.06 प्रतिशत, मौलीबिडनम 2 पीपीएम तथा सेलेनियम 0.10 - 0.17 प्रतिशत

मात्रा में होता है । इन स्थलों पर ताँबा, जस्ता तथा कोबाल्ट की कमी नहीं है । शीर्ष-मृदा तथा खदान मलबे में असामान्य रूप से अधिक बोरान के कारण वृद्धि माध्यम में उद्भिद विषाणुता की अधिकता रहती है ।

मृदा आद्रता संचयन

दोनों स्थलों पर हर महिने मृदा आद्रता संचयन, एक मीटर की गहराई तक 20 से.मी. के अंतराल से न्यूट्रॉन आद्रतामापी से ज्ञात किया गया । जिप्सम खान क्षेत्र की विभिन्न वर्षा के जल को संग्रहण करने की प्रणालियों में औसतन सूक्ष्म-जलग्रहण में सबसे अधिक मृदा आद्रता (4.8) प्रतिशत पायी गयी । इसके बाद मेढ़ तथा उथली नाली में 4.7 प्रतिशत, अर्द्ध-चन्द्र उत्तल में 4.6 प्रतिशत तथा नियन्त्रित रोपण में 4.2 प्रतिशत मृदा आद्रता पायी गई, जबकि बिना खनन किये हुए क्षेत्र में 3.4 प्रतिशत आद्रता ही पायी गई । जिस स्थान को बिना पौधा लगाये नियन्त्रित किया गया, वहाँ वर्ष भर अधिकतम मृदा-आद्रता का उपयोग पौधों द्वारा नहीं किया जाता है । जल संग्रहण प्रणालियों में मृदा-आद्रता के अनुसार कोई विशेष अन्तर नहीं देखा गया । अत्यधिक सघन उच्छेद के कारण, असंतृप्त अवस्था में खदान मलबे में आद्रता की गति धीमी (0.02 प्रतिशत प्रति दिन) थी ।

चूना-पत्थर की खान वाले क्षेत्र में खदान मलबे के टीले के मध्य में विशेष रूप से अधिक मृदा-आद्रता संचयन (7.5 प्रतिशत) पाया गया । उसके बाद टीले के शीर्ष पर 5.3 प्रतिशत तथा आधार पर 5.0 प्रतिशत संचयन वर्ष भर पाया गया । टीले के मध्य में अधिक मृदा-आद्रता के कारण उस स्थान पर दूसरे स्थानों की अपेक्षा पौधों में अधिक वृद्धि हुई । इसी प्रकार, चूना पत्थर के तलागत शैल में अधिकतम मृदा-आद्रता संचयन (8.6) प्रतिशत पाया गया ।

खदान के मलबे के गुण में सुधार

तीन वर्ष के समय में खदान के मलबे की विद्युत-संवाहिता में मामूली बढ़त 0.8 - 1.87 से 2.1 - 2.5 ममहोस प्र.से.मी. देखी गयी । परन्तु पी एच में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, वह 7- 8 मान पर रहा । जैव कार्बन में 0.02 - 0.05 से 0.06 - 0.18 प्रतिशत की वृद्धि प्रक्षेत्र-खाद के विबन्धन के कारण प्राप्त हुई । यह वृद्धि सूक्ष्म-जलग्रह तथा अर्द्ध-चन्द्र उत्तल में अधिक (0.15 - 0.18 प्रतिशत) पायी गई, जबकि मेढ़ तथा उथली नाली में 0.06 - 0.08 प्रतिशत वृद्धि हुई । इसी तरह, तीन साल बाद खदान के मलबें में फॉस्फोरस की वृद्धि 5-8 कि.प्र.है. से 7-11 कि.प्र.है. हो गई ।

पौधों की वृद्धि का निष्पादन

पौधों की वृद्धि का निष्पादन पौधे के आवरण, ऊंचाई, शाखाओं की संख्या, शाखा की लम्बाई तथा मूलसन्धि की परिधि के आधार पर किया गया । प्रत्येक स्थल पर चार - चार पौधों की जातियों में अधिक विकास पाया गया । जिप्सम खान क्षेत्र में अंग्रेजी बबूल, झाऊ, जाल तथा जंगल जलेबी उत्तम प्रदर्शित हुए । सूक्ष्म-जलग्रह तथा अर्द्ध-चन्द्र वर्षाजल संग्रहण की तकनीकी समान रूप से पौधों की वृद्धि के अनुसार, नियन्त्रित उपाय से अधिक उपयुक्त रही ।

चूना-पत्थर खान क्षेत्र में *अकेसिया प्लानीफ्रांन्स,* कुमट *अकेसिया सेनेगल, सर्सिडम फ्लोरिडम* तथा *डाइक्रोस्टैकिस नूटान्स* वृद्धि प्राचाल के अनुसार अधिक उपयुक्त रहे । कूमट में तीन साल में अधिकतम ऊंचाई 1.51 मी. देखी गयी, जबकि *सर्सिडम फ्लोरीडम* में 24.3 प्रतिशत तथा *अकेसिया सेनेगल* में 18.3 प्रतिशत सापेक्षिक वृद्धि हुई ।

कपड़ा औद्योगिक इकाइयों के प्रदूषित जल का प्रबन्ध

पिछले दशक में राजस्थान ने उद्योग के क्षेत्र में काफी उन्नति की है । हाल ही में किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार राजस्थान में लगभग 125 बड़ी श्रेणी की और 149 मध्यम श्रेणी की इकाइयों से प्रतिदिन 30 लाख घन मीटर प्रदूषित जल विसर्जित होता है । यह समस्या कोटा, अलवर, उदयपुर, जोधपुर, पाली व बालोतरा में अधिक है । इनसे निकलने वाले प्रदूषित जल ने सैंकड़ों बीघा कृषि भूमि को बरबाद कर दिया है व पीनें योग्य मीठे पानी को विषैला बना दिया है । यह एक ऐसी समस्या है, जिससे कृषक, उद्यमी, आम नागरिक एवं राज्य सरकार सभी चिंतित हैं । इसके बावजूद इस समस्या का कोई स्थाई समाधान उपलब्ध नहीं है ।

पश्चिमी राजस्थान में समस्या

जोधपुर, पाली और बालोतरा के टैक्सटाइल उद्योगों से विसर्जित प्रदूषित जल की मात्रा प्रतिदिन क्रमशः 80, 100 और 70 लाख लीटर है । इस पानी के विश्लेषण से पता चला है कि इसमें रासायनिक रंग, सोडियम व क्षार की मात्रा बहुत अधिक है । पीने लायक पानी में पी एच मान 7 से 7.5 तक रहता है, जबकि इन इकाइयों से विसर्जित पानी में पी एच 9.0 से 11.0 है और हानिकारक तत्व शीशा व केलशियम भी मिलता है । इस पानी का सी.ओ.डी. 1000 - 2800 पी पी एम व बी ओ डी 390 - 560 पी पी एम है, जबकि इसका स्तर क्रमशः 250 व 30 पी.पी.एम. होना चाहिये । इस पानी के प्रभाव से न केवल मृदा, अपितु भूजल भी बुरी तरह से प्रभावित हुआ और कुछ स्थानों पर तो आसपास का पानी भी रंगीन हो गया है । फलस्वरूप पीने योग्य पानी विषैला हो गया और कृषि भूमि धीरे - धीरे खराब होकर किसी काम की नहीं रह गयी है । इस पानी के उपयोग से चर्म रोग व अन्य कई हानिकारक बीमारियाँ भी फैलती हैं ।

समाधान

काजरी द्वारा ऐसी विधि विकसित की गयी है, जिससे इस प्रदूषित जल से वनारोपण किया जा सकता है । राजस्थान, विशेषकर पश्चिमी राजस्थान में पानी का अभाव है, जिससे वनारोपण में समस्या आती है । इस विधि से यह समस्या कुंछ हद तक सुलझाने में मदद मिलेगी । इस तकनीक से पर्यावरण में सुधार होगा और प्रदूषित जल का सदुपयोग हो सकेगा । इस तकनीक से रोहिड़ा, नीम, इजराइली बबूल, विदेशी बबूल, *टोरटलिस, यूक्लिप्टस, हार्डविकिया, मोपेन,* खेजड़ी, बेर व अनार के पौधों का प्रदूषित पानी से रोपण किया गया । इन पौधों का रोपण करने के लिये खेतों में पहले गोल क्यारियाँ 70 से.मी.. परिधि की बनाई गयीं । प्रत्येक क्यारी में 4 - 5 किलो जिप्सम व 4 - 5 किलो गोबर की खाद मिलाई गयी । प्रत्येक क्यारी में दो घेरे बनाए गये - अन्दर वाले घेरे में पौधा लगाया गया और प्रदूषित जल बाहरी घेरे में दिया गया । इस सिंचाई पद्धति से पौधे का तना प्रदूषित जल के सीधे सम्पर्क में नहीं आता है और प्रदूषित जल का दुष्प्रभाव निष्क्रिय हो जाता है । पौधे में अच्छा अंकुरण व वृद्धि होती है । चार वर्षो में पौधों में संतोषजनक वृद्धि हो जाती है । वृक्षों की पत्तियों व फलों में कोई हानिकारक तत्व नहीं मिले ।

एक अन्य परीक्षण से पता चला कि अगर यह प्रदूषित जल ताप बिजलीघर की राख, जो प्रायः अनुपयोगी है और काफी मात्रा में उपलब्ध है, से निकाला जाये तो रंग के तत्व दूर हो जाते है और पानी साफ हो जाता है । इसका बड़े पैमाने पर एक फिल्टर के रूप में प्रयोग करने के लिये तकनीक विकसित करने की आवश्यकता है ।

इस तकनीक द्वारा प्रदूषित जल से सिंचाई करके वनारोपण कर पर्यावरण को सुधारा जा सकता है तथा बेकार बह रहे पानी का सदुपयोग किया जा सकता है । कृषि भूमि को खराब होने से भी बचाया जा सकता है । इससे लोगों को वृक्षों से पशुओं के लिये चारा, जलाने के लिये ईधंन और इमारती लकड़ी मिलेगी और उनकी आमदनी का एक साधन बनेगा । बेर व अनार लगाने से बहुत अच्छी आय का साधन बन सकता है । हालांकि इससे समस्या का पूर्ण समाधान तो नहीं है, फिर भी इस जल के सदुपयोग का एक तरीका अवश्य है, जो आने वाले वर्षो में पर्यावरण. दुष्प्रभाव निष्क्रिय करने में उपयोगी सिद्ध होगा ।

भारतीय मरुस्थल में जैव विविधता

थार मरुस्थल का भारतवर्ष में पड़ने वाला क्षेत्र अरावली की पहाड़ियों से लेकर जैसलमेर तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र में 150 मि.मी. से 800 मि.मी. तक वर्षा होती है। वर्षा का होना समय व स्थान दोनों ही स्थितियों में अत्यन्त अनियमित है। पूर्व से पश्चिम की ओर चलने पर वाष्पोत्सर्जन की मात्रा जल की उपलब्धता की अपेक्षा बढ़ती जाती है। इस क्षेत्र में तापमान की अधिकता और साथ ही शीतकाल में पाला पड़ने की संभावना तथा तेज गति की वायु, कम सापेक्षिक आद्रता, सूर्य की अधिक प्रखरता व बार - बार पड़ने वाले अकाल, यहाँ पर वनस्पतियों के जीवन की संभावना को अत्यन्त क्षीण करते हैं। रेतीली मिट्टी या कंकरीली मिट्टी में पोषक तत्वों एवं जैविक कार्बन की कमी तथा अति गहरा पानी, जो प्रायः खारा पाया जाता है, इस क्षेत्र को खेती के लिये भी अनुपयुक्त बनाता है। फिर भी विभिन्न प्रकार की पहाड़ियाँ, टीबे, कंकरीले तथा रेतीले मैदान, पानी तथा मिट्टी के विभिन्न प्रकार ऐसी परिस्थितिकीय और भू भौगोलिक विविधताएं प्रदत्त करते हैं, जिनके कारण जैव विविधता की उत्पत्ति एवं पोषण जितना भारतीय रेगिस्तान में हुआ है, शायद ही अन्यत्र हुआ हो।

भारतीय मरुस्थल में विश्व के किसी भी मरुस्थल की अपेक्षा अधिक वानस्पतिक प्रजातियां पायी जाती हैं। इनमें से 6.4 प्रतिशत प्रजातियां ऐसी हैं, जो केवल इस मरुस्थल में ही पायी जाती हैं। यहाँ की 682 प्रजातियाँ 87 वंशकुलों से संबंधित हैं। प्रत्येक प्रजाति में, चाहे घास, झाड़ अथवा पेड़ हो, अन्तर्जातीय विभिन्नता की बहुतायत है। यहाँ की प्रमुख घास धामण में 92 तरह की किस्में पायी जाती है। बेकर तथा गंठीया में पत्तियों के विभिन्न माप और विभिन्न आकार के पौधे पाए जाते हैं। इसी प्रकार से अन्य पौधे जिनमें कई तरह की जातियाँ व उपजातियाँ पायी जाती हैं यथा तांतिया, बूर, *सारट्रोपोमोन*, सेवण इत्यादि, यहां की मूल वनस्पतियां है। शाकीय पौधों में यूफोरबिया कुल में अत्यधिक विविधता पायी जाती है। इसके अलावा कांटी कुल, खीरा कुल और बेकर कुल में भी विविध पादप किस्में बहुतायत से होती हैं। विभिन्न प्रकार के पौधों के वर्ग विभिन्न स्थितियों में पाये जाने के कारण इनका अन्यान्य क्षेत्रों में उपयोग भी प्रायः भिन्न प्रकार से होता है। सर्वेक्षण द्वारा पाया गया है कि 40 पौध प्रजातियाँ ऐसी हैं, जिनके पत्तों से साग बनाया जाता है, 27 प्रजातियों के बीज भक्ष्य हैं, 30 प्रजातियों के फल खाये जा सकते हैं, 8 प्रजातियों से रेशा प्राप्त किया जा सकता है, जबकि 3 से रस्सी का रेशा, 8 से तेल, 7 प्रजातियों से गोंद इत्यादि निकाला जा सकता है। अतः रेगिस्तानी पर्यावरण में पनपने वाले पौधे न केवल यहाँ की विकट परिस्थितिकी में सामान्जस्य बिठा कर जीवित रहते हैं, बल्कि मनुष्यों के लिए अति उपयोगी वस्तुएं और जीवन दायिनी औषधियाँ भी प्रदान करते है। परन्तु अत्यधिक दोहन के कारण आज कई पौधे विलुप्त होने के कगार पर हैं। गुग्गुल उनमें से प्रमुख पौधा है। इसमें पायी जाने वाली गोंद को अधिक से अधिक निकालने के लिए इतने गहरे काट लगाये जाते हैं कि इन पौधों की मृत्यु हो जाती है। इसी लालच वृति के वशीभूत आज गुग्गुल के जंगल जो कायलाना की पहाड़ियों, जालोर के पठरों व जैसलमेर के पहाड़ी इलाकों में पाए जाते थे, आज नष्ट कर दिये गये हैं। इस तेजी से घटती संख्या को देखकर भारत सरकार ने इसके गोंद के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा

दिया है । निर्यात प्रतिबंधित पौधों की सूची में अखिल भारतीय स्तर पर भारतीय मरुस्थल से केवल गुग्गुल ही एक मात्र पौधा है । अतः इस पौधे की संख्या में बढ़वार पर ध्यान देना अति आवश्यक है ।

इस क्षेत्र में उगाई जाने वाली फसलों में प्राकृतिक रूप से अधिक तापमान और पाला सहने की क्षमता होती है । पानी की कमी को भी काफी समय तक झेल कर ये फसलें जीवित रह जाती हैं । इनमें से कई फसलें खारे और क्षारीय क्षेत्रों में उगने के लिए अनुकूलित होती है । इन सब गुणों का समावेश इन पौधों के जीन्स या गुण सूत्रों में होता रहता है । और इन्हीं गुणों को आज दूसरे इलाकों में उगाई जाने वाली फसलों में समाविष्ट करने के लिए कृषि वैज्ञानिकों का ध्यान मरु क्षेत्र की फसलों की ओर केन्द्रित हो गया है ।

विभिन्न प्रकार की फसलों में विविध गुणों के कारण जो जैव विविधता कृषि वैज्ञानिकों ने यहाँ एकत्रित की है, उनमें प्रमुख इस प्रकार है : बाजरा- 17000 किस्में, मोठ -600, ग्वार- 3000, मूंग- 70, चँवला -55, राया -14526, तारामीरा -511, तिल -3283, बेर -84, खजूर -35, रुंधार धामन -138, मोडा धामण -49, सेवण -180, करड़ -72, दूब घास -88, बरसीम -135, सोयाबीन - 500, *स्टायो* -29, *लबलब*- 75 किस्में ।

मरु प्रदेशीय पेड़ों में भी जैव विविधता प्रचुरता से पायी जाती है । खेजड़ी जो कि पश्चिमी राजस्थान का कल्प वृक्ष माना जाता है, में पेड़ की ऊंचाई, तने की मोटाई, टहनियों की संख्या, पेड़ का फैलाव, फली की लम्बाई, फलों में बीजों की संख्या और बीजों में पाये जाने वाली प्रोटीन की मात्रा के आधार पर विविधता आंकी गयी है । यह सब विविधता 182 तरह की उपजातियों में यहाँ एकत्रित की गई है । इसी प्रकार कूमट में 52 विभिन्न प्रकार के पौधे इकट्ठे किये गये है । देशी बबूल में पाये जाने वाली विविधता को संग्रह करने का कार्य भी काजरी में शुरु किया गया है । मारवाड़ टीक के रूप में विख्यात रोहिड़ा में पायी जाने वाली विविधता पेड़ की ऊंचाई (2-12 मीटर), तने की मोटाई (3.8-130 से.मी.), पेड़ का फैलाव (1.4-13.3 मीटर), पत्तियों में पाये जाने वाली प्रोटीन की मात्रा (5.1-20.4 प्रतिशत) के अनुसार 60 विभिन्न प्रकार के पौधों के रूप में काजरी में संरक्षित है ।

हालांकि वन पश्चिमी राजस्थान का एक प्रतिशत हिस्सा ही आच्छादित करते हैं, लेकिन इनमें पायी जाने वाली विविधता का दोहन अति चिन्ता का विषय है । इस पर ध्यान देते हुए वनवर्धनीय अनुभाग 70 जातियों के पेड़ों को काजरी में पोषित कर रहा है । यहाँ 30 वर्ष पहले स्थापित वानस्पतिक उद्यान जो 12 हैक्टेयर में फैला हुआ है, मरु पौधों को संरक्षित करने के लिए अपनी विशिष्ट भूमिका का निर्वहन कर रहा है । यहां पर 83 कुलों की लगभग 800 प्रजातियां संवर्द्धित की जा रही हैं । मरु क्षेत्र के सर्वेक्षण में प्राप्त विभिन्न प्रकार के बीजों को लाकर यहाँ लगाया जाता है । इतने सब प्रयासों के उपरांत भी मरु प्रदेशीय वानस्पतिक विविधता के ह्रास का खतरा लगातार बढ़ता ही जा रहा है । इस क्षेत्र में लायी जा रही इन्दिरा गाँधी नहर परियोजना तथा उससे उत्पन्न परिस्थितिकीय परिवर्तन आज मरु प्रदेशीय पौधों को उस क्षेत्र से समूल नष्ट करने पर आमादा हैं । बढ़ता औद्योगीकरण और खनन तथा अन्य बदलाव इस क्षेत्र में पायी जाने वाली

सम्पदा के लिए खतरा साबित हो रहे हैं । इसकी महत्ता को देखते हुए रियो के पृथ्वी सम्मेलन में एजेन्डा-20 की धारा-14 में मरु प्रदेशीय जैव विविधता को संरक्षित करने का व्यापक प्रावधान विश्व के सभी देशों द्वारा स्वीकार किया गया है । भारत सरकार ने भी अपनी राष्ट्रीय जैव विविधता संरक्षण नीति में मरु क्षेत्रों को प्रमुखता दी है । काजरी में भी वैज्ञानिकों द्वारा इस विषय पर गहन विचार विमर्श कर आने वाले 25 वर्षो के लिए महती अनुसंधान योजना बनाई गयी है । इस के तीन मुख्य चरण निम्नलिखित हैं :-

- जैव विविधता का विस्तृत सर्वेक्षण और मानचित्रीकरण
- कुछ चुने हुए क्षेत्रों में जैव विविधता का समय - समय पर मूल्याँकन, ताकि विभिन्न प्रजातियों के समूह व संख्या का वस्तुपरक अनुमान लगाया जा सके और समय रहते घटती हुई प्रजातियों का पता लगाया जा सके
- विलुप्त होने वाली प्रजातियों के संवर्द्धन के लिए तकनीकी का विकास किया जाकर इन पौधों को उनके मूल क्षेत्र में पुनर्स्थापित कर परिस्थितिकीय प्रबन्धन का विस्तृत विश्लेषण किया जाना प्रस्तावित है ।

ऊपर लिखित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न क्षेत्रीय, सरकारी व गैर-सरकारी संस्थाओं से सहयोग लेकर जैव विविधता को संरक्षित करने के लिए काजरी का प्रयास सतत् जारी रहेगा, ताकि आने वाली पीढियां इस सम्पदा का उचित उपयोग कर सकें ।

आर्थिक महत्व के पौधे

रुक्ष क्षेत्र की अर्थव्यवस्था में आर्थिक महत्व के पौधों का विशिष्ट स्थान है । वर्षा की कमी एवं अनियमितता के कारण सामान्य फसलों के बारे में अनिश्चितता बनी रहती है । सूखे एवं प्राकृतिक विपदाओं के समय रुक्ष क्षेत्र का किसान ईंधन, पशुओं के लिए चारा और स्वयं के भोजन के लिए स्थानीय पौधों पर निर्भर रहता है । यदि यही पौधे सामान्य परिस्थिति में किसान के लिए अतिरिक्त आय का साधन बन सकें तो निश्चय ही मरुस्थलीय कृषक की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सकता है । मरुस्थलीय वनस्पति में बहुत से ऐसे पेड़ पौधे पाये जाते हैं, जिनसे औद्योगिक अथवा औषधीय महत्व के उत्पाद प्राप्त किये जा सकते हैं । काजरी में सघन अनुसंधान से अनेक आर्थिक महत्व के पौधों को चिन्हित किया गया है, जिंनका विवरण इस प्रकार है :

हिंगोट (*बैलानाइटिस रौक्सबरघाई*) से डायोस्जेनिन एवं वनस्पति तेल

हिंगोट के फलों को डायोस्जेनिन एवं वनस्पति तेल का एक अच्छा स्रोत पाया गया है । पश्चिमी राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों से एकत्रित किये गये फलों के नमूनों से 0.4 प्रतिशत से 3.7 प्रतिशत तक गूदे पर आधारित मात्रा में डायोस्जेनिन प्राप्त की गई है, जो अनेक औषधियों के निर्माण में एकमात्र पूर्वगामी पदार्थ है । देश में इसे अनेक स्टेरॉयड हारमोन एवं भक्ष्य गर्भ निरोध औषधियों के उत्पादन में उपयोग में लाया जाता है । इसके अतिरिक्त हिंगोट के बीज से लगभग 45 प्रतिशत मात्रा में हल्के पीले रंग का तेल प्राप्त किया गया है । यह तेल साबुन उद्योग में उपयोग किया जा सकता है । इस तेल का राष्ट्रीय पोषण संस्थान, हैदराबाद में लघुकालीन पोषण परीक्षण भी करवाया गया है, जिसमें इस तेल को मूंगफली के तेल के समतुल्य पाया गया है । इसकी खली, जो प्रचुर प्रोटीन मात्रा से युक्त है, पशु-आहार में उपयोग की जा सकती है ।

मैक्सिकन थोर (*यूफॉर्बिया एन्टिसिफिलिटिका*) से कैन्डेलिला मोम

मेक्सिकन थोर से लगभग 4 प्रतिशत मात्रा में शुष्क भार आधारित कैन्डेलिला मोम प्राप्त किया गया है । कैन्डेलिला मोम का भारत में उत्सफोटकों के निर्माण के अन्तिम चरण में उपयोग करने के लिए आयात किया जाता है । इस मोम का उपयोग पॉलिश, चर्वण निर्यास आदि में भी किया जा सकता है । यह थोर पश्चिमी राजस्थान में भली - भांति उपजाया जा सकता है । संस्थान में निकाले गये मोम के नमूने को उत्सफोटक उत्पादन में उपयोग हेतु कार्डाइट फैक्ट्री, नीलगिरी द्वारा उपयुक्त पाया गया है ।

कूमट (*अकेशिया सेनेगल*) से अधिक मात्रा में गोंद

औषधीय गुणों से युक्त कूमंट का गोंद "गम अरेबिक" के नाम से जाना जाता है । भारत में सामान्यतः कूमट से प्राकृतिक रूप से बहुत कम मात्रा में गोंद प्राप्त होता है । इसकी कमी के कारण ही प्रति वर्ष करीब पाँच हजार टन ऐसा गोंद दूसरे देशों से आयात करना पड़ता है । इथिफोन नामक पौध वृद्धि नियंत्रक के घोल से उपचारित कूमट के पेड़ों से प्रति वृक्ष लगभग एक

किलो तक गोंद प्राप्त किया जा सकता है । इस गोंद को भारतीय फार्मोकोपिया में दिये गये मापदण्ड के अनुरूप पाया गया है ।

धतूरा (*दतूरा इनॉक्सिया*) से स्कोपोलामीन

'मोशन सिकनैस'' के उपचार के लिये स्कोपोलामीन सर्वोत्तम औषधि मानी जाती है । *दतूरा इनॉक्सिया* में यह एल्कलाएड प्रचुर मात्रा में पाया जाता है । भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, दिल्ली से प्राप्त *ई सी 34404* बीजों से जोधपुर में उपजाये गये *दतूरा इनॉक्सिया* के पौधों में यह अल्कलॉएड 0.31 प्रतिशत मात्रा में उपस्थित पाया गया है, जबकि इन्हीं बीजों से भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, दिल्ली के परिसर में उपजाये गये पौधों में केवल 0.12 प्रतिशत मात्रा में यह अल्कलॉएड पाया गया ।

यूक्लिप्टस विरिडिस से औषधि उद्योग में उपयोगी उत्पत तेल

आस्ट्रेलिया से प्राप्त बीजों से जोधपुर में उगाये गये *यूक्लिप्टस विरिडिस* की पत्तियों से रंग रहित उत्पत तेल प्राप्त किया गया है । इस तेल में 93 प्रतिशत मात्रा में सीनियोल उपस्थित पाया गया है, जो कि औषधीय उपयोग के लिए निर्धारित मात्रा 70 प्रतिशत से कहीं अधिक है ।

आर्नीबिया हिस्पीडिस्सिमा से नैफथाजैरिन्स

आर्नीबिया हिस्पीडिरिस्मा की जड़ों से पाँच आइसोहेक्सीनाइलनैफ्थाजैरिन्स नामक यौगिक प्राप्त किए गए हैं । इन यौगिकों को एक नये वर्ग की कैंसर रोधी औषधियां माना जाता है । इस पौधे से प्राप्त किये गये यौगिकों के नाम हैं: अल्कैनिन एसिटेट, अल्कैनिन, अल्कैनिन आइसोवेलरेट, अल्कैनिन बीटा हाइड्रॉक्सी आइसोवेलरेट तथा आरनेबिन-7 ।

रुवाली बियानी (*टेफ्रोसिया विल्लोसा*) से रोटिनोन

रोटिनोन, जो रोटिनाएड समूह के यौगिकों में सबसे अधिक प्रभावशाली कीटनाशक है, रुवाली बियानी नामक पौधे से प्राप्त किया गया है । अन्य यौगिक जो इस पौधे से प्राप्त किये गये हैं, वे हैं: 6ए,12ए- डिहाइड्रोरोटिनोन, स्टिगमास्ट्रोल एवं एक नया प्रीनाइल युक्त फ्लावनोन, 7-मिथाइल-ग्लैबरानीन ।

रती बियानी (*टेफ्रोसिया फाल्सिफॉर्मिस*) से ट्राइकॉन्टनोल

ट्राइकॉन्टनोल एक बहुत ही प्रभावकारी पादप वृद्धि नियंत्रक यौगिक है । इसका लाभकारी प्रभाव अनेक फसलों एवं सब्जियों पर मान्य है । रती बियानी की फलियों से 0.21 प्रतिशत ट्राइकॉन्टनॉल प्राप्त किया गया है ।

सोनामुखी (*कैशिया एंगस्टिफोलिया*) से सेनोसाइड

सोनामुखी औषधीय महत्व का पौधा है और इसका विदेशों को निर्यात होता है । जोधपुर में उपजाये गये सोनामुखी की पत्तियों में 3 से 4.8 प्रतिशत मात्रा तक सेनोसाइड प्राप्त किया गया है, जो ब्रिटिश फार्माकोपिया की निर्धारित 2.5 प्रतिशत की मात्रा से अधिक है ।

रोशा घास (*सिम्बोपोगान मार्टिनी* किस्म *मोतिया*) से उत्पत तेल

रोशा घास के उत्पत तेल की सुगंधि-उद्योग में अत्यधिक मांग है । इस तेल में जरेनियोल नामक यौगिक अधिक पाया जाता है । जोधपुर में उपजाये गये रोशा घास के पौधों से प्राप्त किया गया उत्पत तेल भारतीय मानक संस्थान के निर्धारित मापदण्ड के अनुरूप पाया गया है ।

इसके अतिरिक्त ट्राइकॉन्टनोल नामक प्रभावकारी पादप वृद्धि नियंत्रक अधिक मात्रा में प्राप्त करने की दिशा में अन्य मरुस्थलीय पौधों जैसे खेजड़ी, गून्दा, कूमट, खजूर, अंग्रेजीं बबूल आदि पर भी अनुसंधान कार्य किया गया है । ट्राइकॉन्टनॉल की मात्रा 0.68 प्रतिशत शुष्क भार आधारित तक अंग्रेजी बबूल की पत्तियों में पायी गई है । ट्राइकॉन्टनॉल सामान्यतः मोम के घटक के रूप में पाया जाता है । चूंकि मरुस्थलीय वनस्पति में मोम की मात्रा अधिक पायी जाती है, जिससे प्राकृतिक रूप से पेड़-पौधें अपने अन्दर की नमी को बनाये रखें, अतः मरुस्थलीय वनस्पति में ट्राइकॉन्टनोल के अधिक होने की संभावना बढ़ जाती है ।

रोहिड़ा (*टैकोमेला अन्ड्यूलेटा*) की पत्तियों के रासायनिक विश्लेषण से उरसोलिक अम्ल, बिटूलिनिक अम्ल एवं ओलियोनिक अम्ल नामक यौगिक प्राप्त हुए हैं । इनमें से पहले दो यौगिक एच आई वी प्रतिरोधी गुण रखते हैं ।

हमारे देश में खाद्य एवं अखाद्य दोनों तरह के तेलों की कमी है । फलस्वरूप प्रतिवर्ष इन तेलों का आयात किया जाता है । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए मरुस्थलीय वनस्पति से तेल प्राप्ति की दृष्टि से अनुसंधान कार्य किया गया । यहाँ पाये जाने वाले नीम, खेजड़ी, बागरो (*क्लीयोम विस्कोसा*) बियानी (*टेफरोसिया परपूरिया*), झरबेरी तथा *कोलोफोस्परमम मोपेन* का रासायनिक विश्लेषण किया गया, जिससे पता चला कि इन पौधों के बीजों में तेल की मात्रा क्रमशः 39.5 प्रतिशत से 47.1 प्रतिशत, 17.8 प्रतिशत से 21.6 प्रतिशत, 9.61 प्रतिशत से 11.2 प्रतिशत, 32.6 प्रतिशत से 36.2 प्रतिशत तथा 21 से 25 प्रतिशत है ।

संस्थान के परिसर में अन्य आर्थिक महत्व के पौधे जैसे होहोबा (*साइमोन्सिया चाइनेन्सिस*), गुआयुले (*पार्थिनियम अरजन्टेनम*), धावड़ा (*एनोगिसस रोटन्डिफोलिया*), गुगल (*कामीफोरा वाइटाई*), सलाई (*बोस्वेलिया सेराटा*) आदि भी लगाये गये हैं ।

मरुस्थल का पशुधन, समस्याएं व निराकरण

वर्ष 1986 में की गई पशु गणना के अनुसार राजस्थान के मरु जिलों में विभिन्न प्रजातियों के 134 लाख पशु पाये जाते थे, जिनकी संख्या 1992 में बढ़कर 232 लाख हो गई है। इस क्षेत्र में पाये जाने वाले पशुओं की उष्ण मरुस्थलीय जलवायु सहने की विशेष क्षमता, कम जल की मात्रा में भी अपने शरीर की क्रियाओं को चालू रखना व निम्न स्तर के चारे पर निर्भर रह सकने की क्षमता के कारण ही यह पशु - वृद्धि सम्भव हो पायी है।

क्षेत्र में प्रमुख गौ वंश में थारपारकर, राठी, लाल सिंधी, नागौरी तथा कांकरेज नस्ल की गायें पायी जाती हैं। भैसों में मुख्यतः मुर्रा व मेहसाना नस्लें पायी जाती हैं। राजस्थान में कुल पायी जाने वाली 8 भेड़ो की नस्लों में से मरु प्रदेश में 6 नस्लें चौकला (जिसे रुक्ष क्षेत्र की मैरीनो कहा जाता है), मगरा, मारवाड़ी, नाली, पूंगल व जैसलमेरी पायी जाती हैं। मारवाड़ी नस्ल की बकरियां इस उष्ण प्रदेश के लिए बहुत उपयुक्त हैं। परन्तु इनमें प्रति पशु दूध का उत्पादन कम होता है। इस नस्ल को मुख्यतः माँस उत्पादन के लिए ही काम में लिया जाता है। दूध उत्पादन के लिए श्रेष्ठ नस्लें परबतसर व झकराना इसी क्षेत्र की देन हैं।

उत्पादन

यहां की भेड़ों (मारवाड़ी, जैसलमेरी, मगरा) का औसत ऊन उत्पादन 1.56 कि. ग्रा. प्रति वर्ष है, जबकि राजस्थान का औसत प्रति भेड़ ऊन उत्पादन 1.3 कि.ग्रा. प्रति वर्ष है तथा राष्ट्रीय भेड़ों का औसत ऊन उत्पादन केवल 0.88 कि. ग्रा. प्रति वर्ष है। राष्ट्र के कुल दुग्ध उत्पादन का 11 प्रतिशत राजस्थान में होता है।

जल तथा चारा उपलब्धता

पशुओं में जल की आवश्यकता उनके शुष्क भार, भोजन की मात्रा, निवास स्थल का ताप व आपेक्षित आद्रता तथा भोजन के प्रकार पर निर्भर करती है। साधारणतया शीतकाल में चौपाए अपने तौल का दुगुना तथा ग्रीष्म काल में चार गुना जल पीते हैं। चारा साधारणतया अपने भार का 2.5 प्रतिशत तक खाते हैं। राजस्थान के उष्ण मरुस्थलीय क्षेत्र में कम वर्षा, जल तथा आद्रता की कमी के रहते पशुओं के खाद्य चारे की कमी वर्ष भर रहती है। हालांकि पहली वर्षा के साथ ही भूमि में विद्यमान वानस्पतिक बीजों का अंकुरण हो जाता है तथा जमीन हरे भरे चारे से ढ़क जाती है, परन्तु वर्षा के बाद पशुओं की बहुलता मुख्यतः चारे को निगल जाती है, और रह जाती है कुछ वनस्पतियां, जो पोषकता की दृष्टि से निम्न स्तर की होती है। कुछ पेड़ व झाड़ियां वर्ष के शेष काल में पशुओं को पोषक तत्व प्रदान करते हैं।

इस सन्दर्भ में आंकड़ों से यह विदित होता है कि 1995 में 98.58 लाख वयस्क पशु इकाई (व.प.इ.) के बराबर पशुओं की संख्या के लिए 295.7 लाख टन चारे की आवश्यकता की तुलना में केवल 177.9 टन चारे का उत्पादन ही हुआ। अतः उस वर्ष 39.8 % चारे की कमी आकलित

की गई । वर्ष 2000 में अनुमान है कि 108.34 लाख व.प.इ. के बराबर पशुओं की संख्या के लिए 325 लाख टन चारे की आवश्यकता की तुलना में केवल 204.6 लाख टन चारा ही पैदा होगा । अर्थात् चारा उपलब्धि में लगभग 37 % तक कमी रहेगी ।

इस संस्थान ने मरुस्थलीय पशुओं के विभिन्न खाद्य पदार्थों यथा चारा, घास, झाड़ी व वृक्षपर्ण तथा उनके पोषक तत्वों की मात्रा व पोषकता, इनमें पाये जाने वाले विभिन्न द्वितीयक उपायचयी जैव रसायन, उनका पशुओं की पाचन क्षमता पर प्रभाव तथा पशु खाद्य पदार्थों की पोषकता में सुधार की दिशा में विस्तृत अध्ययन किया है । मरुस्थल की प्रकृति में पायी जाने वाली पशु खाद्य योग्य अपारम्परिक वनस्पतियां व उनके उत्पादों को पशु खाद्य हेतु उपयोग में ले सकने की सम्भावना का पता लगाया गया है । पोषक बट्टिका द्वारा पोषक तत्वों की कमी दूर करने की सम्भावना का भी प्रयास किया गया ।

रुक्ष क्षेत्र की विभिन्न पशु प्रजातियों की उत्पादन क्षमता

परबतसर नस्ल की दुधारु बकरी का विस्तृत अध्ययन कर इसके द्वारा मरुस्थल में दुग्ध उत्पादन में वृद्धि की सम्भावनाओं का पता लगाया गया । इस नस्ल की बकरियां मरुस्थलीय वातावरण को सह सकती हैं तथा दूध का उत्पादन भी कर सकती हैं । ये बकरियां औसतन प्रथम, द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ ब्यात में क्रमशः 132, 136, 138 व 140 लीटर तक दूध दे सकती हैं । इनके दूध में वसा की मात्रा औसतन 4 % तक होती है ।

इसी प्रकार के अध्ययन मारवाड़ी बकरी में भी किये गये व पाया गया कि मादा मेमने 12 माह की उम्र में प्रजनन योग्य हो जाती है तथा प्रथम, द्वितीय, ततीय व चतुर्थ ब्यात में क्रमशः 81, 84, 86 व 89 लीटर प्रति ब्यात दूध का उत्पादन करती है । इनमें लगभग 5 % द्वि-मेमने पाये गये ।

विभिन्न नस्ल की बकरियों का मरुस्थलीय जलवायु अनुकूलन अध्ययन व उत्पादन क्षमता

आरम्भिक अध्ययन से यह पाया गया कि बीटल व जमनापारी बकरियां मरुस्थलीय उष्ण वातावरण को साधारणतया न केवल सहन कर सकती है, बल्कि इनके प्रजनन में भी कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं देखा गया । मारवाड़ी नस्ल की बकरियों की तरह बीटल व जमनापारी नस्ल की बकरियों में प्रजनन का कोई विशेष मौसम नहीं होता । ये वर्ष भर प्रजनन योग्य रहती हैं । यह प्रयोग स्थानीय नस्ल की बकरियों को इन नस्लों द्वारा सुधार की संम्भावनाओं को इंगित करता है । बारबरी नस्ल की बकरी के प्रारम्भिक अध्ययन दर्शाते हैं कि हालांकि ग्रीष्मकाल में तो इन जानवरों को कुछ समस्या आई, परन्तु वर्ष के शेषकाल में यह जानवर यहां के वातावरण में अच्छी तरह से ढ़ल गये । बारबरी नस्ल के बकरों में वृद्धि-दर व वीर्य-गुणवत्ता सभी मौसम में सामान्य पायी गयी । इसी तरह इस नस्ल की बकरी के प्रजनन इत्यादि में भी मौसम का कोई प्रभाव नहीं देखा गया तथा दैनिक दुग्धकाल, एक ब्यात का दुग्ध उत्पादन व दुग्ध रचना, मूल निवास स्थान में पायी जाने वाली बकरियों के सदृश ही थी । यह बारबरी नस्ल की बकरियों को इस मरुस्थल में पाले जाने की सम्भावना को इंगित करता है ।

अर्धशुष्क क्षेत्र की झकराना नस्ल तथा कच्छी नस्ल की बकरियों व मारवाड़ी नस्ल की बकरियों में वृद्धि दर व जलवायु अनुकूलन के अध्ययन किये गये । साधारणतः कच्छी नस्ल की बकरियों मे वृद्धि मारवाड़ी सदृश, परन्तु झकराना की वृद्धि दर इन दोनो से बहुत कम दर्ज का गई । झकराना नस्ल की बकरियों को इस मरुस्थलीय वातावरण में पालने योग्य नहीं पाया गया, क्योंकि इसके उत्पाद प्राप्त करने के लिए चराई के साथ पौष्टिक आहार की आवश्यकता अनुभव की गई । अतः इनका पालन मरुस्थलीय क्षेत्र में आर्थिक दृष्टि से लाभकारी नहीं रहता है । झुन्झुनू व सीकर ज़िलों में पायी जाने वाली अपनी तरह की विशिष्ट बिना सींग की शेखावटी बकरियों द्वारा अपने प्राकृतिक निवास क्षेत्र की तरह यहां पर भी संतोषजनक प्रदर्शन पाया गया ।

प्राकृतिक लवणीय जल का भेड़ पालन में उपयोग

प्रयोगों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया कि मारवाड़ी नस्ल की भेड़ अधिकतम 1% तक लवणीय जल पर निर्वाह कर सकती है । मारवाड़ी व मगरा नस्ल की भेड़ों को 1800 पी.पी.एम. लवणीय जल पर रखा गया तो इनमें प्रजनन व अन्य दैहिक कार्यकी में कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं देखा गया । परन्तु जब लवणीय जल की मात्रा 3500 पी.पी.एम. तक बढ़ा दी गई, तो इनमें ऊन-उत्पादन व प्रजनन में प्रतिकूल प्रभाव देखा गया । वयस्क मारवाड़ी व मगरा नस्ल की भेड़ो पर 0.2%, 0.35% व 0.45% लवणीय जल का दीर्घकालीन उपयोग करने की सम्भावना का पता लगाया गया । यह पाया गया कि 0.35% तक लवणीय जल पर रखी गई भेड़ के दुग्ध व ऊन उत्पादन में, एवं उनसे प्राप्त मेननों में जन्म-मत्यु दर, भार-वृद्धि व ऊन उत्पादन में प्रतिकूल प्रभाव नहीं हुआ । इसी प्रकार प्रजनन के विभिन्न घटकों में भी कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं देखा गया । परन्तु 0.45% लवणीय जल सेवन पर भेड़ो में दस्त की समस्या देखी गयी तथा गर्भ-धारण की क्षमता प्रभावित हुई ।

भेड़ों पर नाइट्रेट-युक्त लवणीय जल के दूषित प्रभावों पर भी अध्ययन किये गये व पाया गया कि 1 ग्राम/ लीटर तक सोडियम नाइट्रेट युक्त जल पर रखी भेड़ो में उत्पादन व प्रजनन-कारकों में कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता । इससे अधिक नाइट्रेट युक्त जल पर आश्रित भेड़ों में उत्पादन व प्रजनन कारकों में प्रतिकूल प्रभाव देखा गया ।

मरुस्थलीय पशुओं में जलवायु अनुकूलन क्षमता

शुष्क गर्म वातावरण में सामान्यतया पशु अपने शरीर के भार के हिसाब से सर्दी, बसंत, गर्मी और वर्षा पश्चात क्रमशः 7% -8%, 12% -13%, 15% -16% और 12% -13% की दर से पानी का प्रयोग करता है । भारतीय मरुस्थल में भेड़, बकरी और गधों में कम पानी उत्सर्जन की दर पायी गई । यह दर मारवाड़ी बकरी में निम्नतम व गधे में उच्चतम थी, जबकि मारवाड़ी भेड़ की दर इन दोनो पशुओं के बीच की थी । मरुस्थलीय भेड़, बकरी व गधे में शरीर के कम पानी उत्सर्जन की दर और तापीय भार में सकारात्मक संबंध देखा गया । पशुओं के अध्ययन से जानकारी मिली कि मारवाड़ी भेड़ को मारवाड़ी बकरी की तुलना में 17% अधिक पानी की आवश्यकता होती है । राजस्थान के मरुस्थल की परबतसर बकरी भी मारवाड़ी भेड़ के समान

अधिक पानी का प्रयोग करती है । समान वातावरण में रहने वाली बकरी में भेड़ की अपेक्षा उत्सर्जन दर कम होती है । किसी दूसरे देश के शुष्क क्षेत्र की बकरी की अपेक्षा मारवाड़ी बकरी में उत्सर्जन दर कम पायी गई ।

जल की कमी वाली स्थिति में शरीर में पानी का वितरण जल उत्सर्जन दर

किसी भी मरुस्थलीय पशु के लिए परिभ्रमण- जल को नियन्त्रण में रखना अत्यधिक महत्वपूर्ण है । जल नियन्त्रण की स्थिति में पशुओं द्वारा शरीर से पानी की कमी होने पर शरीर के विभिन्न पानी वाले भागों से पानी लिया जाता है । यह प्रक्रिया निर्जलीकरण के समय पशुओं में भिन्न-भिन्न होती है । मारवाड़ी बकरी में पानी की कमी के समय कोशिका व आन्त्र पानी अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं, क्योकि इसी पानी के द्वारा पशु अपने आपको कठिन परिस्थिति में भी सामान्य बनाकर रह सकता है । इसीलिए इस जल को आपात्कालीन स्थिति में जल भण्डार कहते हैं, जो बकरी में संवहन-अवरोध को रोकने के लिए प्रयोग में आता है । पानी की कमी के समय भेड़ इस प्रकार के कोशिका व आन्त्र-जल को पूरी तरह प्रयोग में नहीं ला सकती है । वह पूर्णतः परिभ्रमण जल पर निर्भर रहती है । इसीलिए भेड़ बकरी की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक शुष्क वातावरण में कठिनाई अनुभव करती है । काली मारवाड़ी बकरी को शीतऋतु के अन्त में 13 दिन तक सीमित पानी पर रखने पर भी उसके वजन में बहुत कम कमी आयी, जबकि मारवाड़ी भेड़ में 13 दिन के समय में बकरी की तुलना में अधिक भार ह्रास हुआ । बकरी, भेड़ व गधे में शरीर द्वारा पानी समाप्त होने की दर क्रमशः 46, 87 और 99 मि.ली/ कि.ग्रा./ दिन थी । निर्जलीकरण के समय पशुओं द्वारा अपने आप गुजारा करने की क्षमता इस प्रकार थी : मारवाड़ी बकरी < मारवाड़ी भेड़ < मरुस्थलीय गधा ।

मरु परिस्थितिकी अनुकूलन

मरुस्थलीय परिस्थितिकी के लिए पशुओं के अनुकूलन में निम्न कारक प्रभाव डालते हैं:

- कम जल उत्सर्जन की दर (L-BWTR)
- कम मल चयापचयन की दर (L-BMR)
- कम कोशिका जूट निस्सादन (L-GFR)
- कम पसीने की दर (L-SR)

हीमोग्लोबिन प्रकार: भेड़ की सभी प्रजातियों में विभिन्न प्रकार के हीमोग्लोबीन जैसे हीमोग्लोबीन - ए, हीमोग्लोबीन - बी आदि पाये जाते है । हीमोग्लोबीन- बी और हीमोग्लोबीन- ए बी प्रकार की भेड़ों की अपेक्षा हीमोग्लोबीन -ए प्रकार की भेड़ें अच्छी और अधिक ऊन देती हैं ।

सुझावः निम्न प्रकार के पशुओं को मरु क्षेत्रों हेतु विकसित किया जा सकता है :

भेड़ः 'जी.एस.एच.एल हीमोग्लोबीन -ए, के.एल.के.एल. । इसके अतिरिक्त उनमें कम मान वाले बी.डब्लू.टी.आर. और जी.एफ.आर. का संयोजन होना चाहिये ।

बकरीः जी.एल.एच.एच. । इसके अलावा इनमें कम मान वाले बी.ड्ब्लू.टी.आर.एल का संयोजन होना चाहिए ।

आइबोमिक्स

भेड़, बकरी, गाय, भैंस एंव ऊँट के शरीर भार को बढ़ाने, अधिक गुणवत्ता वाली ऊन और अधिक दूध उत्पादन हेतु एक सन्तुलित रासायनिक मिश्रण "आइबोमिक्स" विकसित किया गया है । आइबोमिक्स देने पर भेड़ के मेमने का 6 महीने की आयु में शरीर भार 27 कि.ग्रा. रहा, जबकि बिना आइबोमिक्स दिये भेड़ के मेमने का इसी उम्र में शरीर भार 17 कि.ग्रा. रहा । इसी प्रकार मारवाड़ी बकरी (मेमना) को आइबोमिक्स देने से 22 कि.ग्रा. तथा नहीं देने पर 15 कि.ग्रा. वजन 6 महीने की आयु में मापा गया । भेड़ को आइबोमिक्स देने से ऊन उत्पादन में 25 से 30% वृद्धि हुई तथा ऊन की गुणवत्ता में भी सुधार पाया गया । इसी प्रकार दुग्ध उत्पादन भी 25% से 30% तक बढ़ा । आइबोमिक्स का पशुओं में शीघ्र वयस्कता हेतु भी बहुत अच्छा प्रभाव पाया गया ।

फॉर्मलडिहाइड उपचार द्वारा बोरड़ी-पर्ण की पौष्टिकता में वृद्धि

सत्तर के दशक में बेर की पत्तियों को फॉर्मलडिहाइड उपचार द्वारा उनकी पौष्टिकता बढ़ाने का सफल प्रयास किया गया । फॉर्मलडिहाइड उपचारित पत्तियों को खिलाने से भेड़ों में ग्राह्य चारे की पोषकता में वृद्धि व ऊन उत्पादन व उसकी गुणवत्ता में सुधार दर्ज किया गया ।

मरुस्थलीय घासों की पौष्टिकता

सेवण व धामण घास मरुस्थल के घासों की मुख्य किस्में हैं । इनके सूखे चारे में क्रमश 5.6% व 3.1% प्रोटीन विद्यमान रहता है तथा इनकी शुष्क भार पाच्यता मारवाड़ी भेड़ो में 31% व 46% होती है । नत्रजन सन्तुलन क्रमशः 1.63 व 0.62 ग्राम प्रतिदिन आंका गया । यह प्रयोग भेड़ों के चारे के रूप में धामण के बजाय सेवण घास के चारे की महत्ता दर्शाता है ।

जल की कमी में पशु पाचन क्षमता पर प्रभाव

मारवाड़ी व मगरा नस्ल की भेड़ो में जल की कमी से उनकी क्षमता पर प्रभाव के अध्ययनों से यह पाया गया कि इन पशुओं को यदि उनकी आवश्यकता का केवल 50% जल की मात्रा ही दी जाय, तो उनके द्वारा ग्राह्य चारे की पाच्यता में वृद्धि हो जाती है

वर्षाकालिक चारे की पोषकता

15 विभिन्न प्रकार के पशु चारों व वर्षाकाल में बहुतायत में मिलने वाली वनस्पतियों का चयन कर उनके विभिन्न पोषक घटकों का विश्लेषण किया गया । 15 दिनों के अंकुरित ग्रामन घास में प्रोटीन व आकलित पाच्यता का मान सबसे अधिक था । परन्तु समय के साथ इनका मान घटता गया । साधारणतया द्वि-दलीय चारों में हालांकि प्रोटीन तो प्रचुर मात्रा में पाया गया, परन्तु लिगनिन की बहुलता के कारण आकलित पाच्यता का मान आशा के विपरीत कम पाया गया ।

रुक्ष क्षेत्र के वृक्ष-पर्णो के पोषक घटकों की मात्रा तथा उनकी शुष्क-द्रव्य पाच्यता

विभिन्न वृक्ष-पर्ण जो पशुओं को चारे के रूप में उपलब्ध होते हैं, उनके विभिन्न पोषक-घटकों व शुष्क द्रव्य पाच्यता का मान ज्ञात करने के लिए विश्लेषण किया गया । औसतन शुष्क-द्रव्य भार के आधार पर इन मरुस्थलीय वृक्ष-पर्णों में 14.6% - 20.1% प्रोटीन, 29% - 36% अपरिमार्जित रेशे, 12.3% - 25.9% अम्लीय अपमार्जक रेशे, 8.8% - 10.7% अर्द्ध सेल्यूलोज, 9.4% - 16.2% सेल्यूलोज, 3.4% - 9.7% लिगनिन, 0 - 3.5% क्यूटिन व 0.7% सिलिका पायी गई । यह देखा गया कि वृक्ष-पर्ण में जैसे-जैसे टेनिन की मात्रा बढ़ी, शुष्क-द्रव्य पाचिता मान लगभग उसी अनुपात में कम होता गया । कूमट की पत्तियों की शुष्क-द्रव्य पाच्यता अधिकतम (75%) अंकित की गई । इनमें टेनिन नहीं पाया जाता है । खेजड़ी की पत्तियों में शुष्क-भार का 14.8 % टेनिन पाया जाता है । इसकी शुष्क-द्रव्य पाच्यता केवल 55.4% थी । हालांकि विलायती बबूल की पत्तियों में टेनिन विद्यमान नहीं था, परन्तु शुष्क-द्रव्य पाच्यता का मान सबसे कम देखा गया । यह दर्शाता है कि इन पत्तियों में अन्य कोई रासायनिक घटक इसके निम्न द्रव्य पाच्यता का कारक है ।

वृक्ष-फलियों का पशु-चारे में उपयोग

ग्रीष्म काल के आरम्भ में ही गंवाई पशुओं को चारे की कमी होने लगती है । ज्यादातर मरुस्थलीय वृक्ष इसी समय फलियां देते हैं, जो सूखने के बाद जमीन पर गिर जाती हैं । इनको जानवर बड़े चाव से खाते हैं । साधारणतया अर्द्ध पकी फलियों में प्रोटीन की मात्रा, पकी हुई फलियों से ज्यादा होती है । फली के छिलके में औसतन केवल 7.9% प्रोटीन विद्यमान रहता है । कूमट व सरेस की फलियों में 22.6% व ग्वार कतरी छिलके में केवल 6% प्रोटीन ही पाया गया । अध-पकी फलियों में 22.3% तथा इन्हीं फलियों में पकने पर केवल 14.6% प्रोटीन आँका गया । फलियों में प्रोटीन के साथ-साथ टेनिन भी विद्यमान रहता है , जो प्रोटीन व शुष्क-द्रव्य पाच्यता को प्रभावित करता है ।

मरुस्थलीय वृक्ष-पर्णों की पोषकता पर द्वितीयक जैव चयापचयक का प्रभाव

खेजड़ी व बेर की पत्तियों में पोटीन के प्रचूर मात्रा में विद्यमान होने के उपरान्त भी भेड़ में इन पर्णों की शुष्क-द्रव्य पाच्यता क्रमशः 44.4% व 51.6% आँकी गई । इस प्रयोग से यह निष्कर्ष

निकलता है कि टेनिन प्रोटीन व लिग्निन यौगिक शर्करा घटक विशेषकर अर्ध-सेल्यूलोज की पाच्यता को प्रभावित करते हैं ।

वृक्ष-पर्णों मे टेनिन का मान

66 प्रजातियों के मरुस्थलीय वनस्पतियों के कुल 75 नमूने एक बहु फलोली-प्रति पोषकीय कारक की मात्रा के लिये विश्लेषित किये गये । अध्ययन में टेनिन की मात्रा 1.0% से 22.0% तक पायी गई । साधारणतया *एकेशिया, बोहिनिया, कैसिया, फाइकस* व *प्रोसोपीस* वंश की वनस्पतियों में टेनिन पायी जाती है । नई पत्तियों की अपेक्षा पुरानी पत्तियों में टेनिन ज्यादा होती है । प्राकृतिक पाये जाने वाले *रिनकोसिया-मिनिमा* में 3.75% टैनिन पायी गई ।

खेजड़ी की पत्तियों को टैनिन विमुक्त करना

खेजड़ी में टैनिन व उसके प्रोटीन पाच्यता में प्रतिकूल प्रभाव के अध्ययन के बाद इन पत्तियों को इस प्रतिपोषक कारक से विमुक्त करने के प्रयास किये गये, जिससे वृक्ष-पर्ण की पोषकता को बढ़ाया जा सके प्रयोग के अन्तर्गत कई रसायनों से इन पत्तियों को उपचारित किया गया, तथा यह पाया गया कि सोडियम कार्बोनेट का 5% जलीय विलयन का उपचार 94% टैनिन हटाने में सक्षम है । हाल ही में इस विटैनिकरण विधि में सुधार किया गया । इस विधि में 5% की बजाय 1% सोडियम कार्बोनेट ही यथेष्ट लाभकारी है ।

भेड़-बकरियों में सूक्ष्म खनिजों की मात्रा

एक प्रारम्भिक अध्ययन से पता लगा कि मरुक्षेत्रीय घास व झाड़ी चराई पर रखे पशुओं में ताम्र की मात्रा 0.91 से 1.49, लौह 4.66 -6.06 व जस्ता 3.97 - 8.84 माइको ग्राम/ मि.ली. दर्ज की गई । मैंगनीज की मात्रा अपर्याप्त थी । यह प्रयोग दर्शाता है कि भेड़ व बकरी जो मरुस्थलीय झाड़ियों या घास क्षेत्र में चराई गई हों, उनमें ताम्र, लौह व जस्त तत्व की कमी साधारणतया नहीं होती है, परन्तु मैंगनीज की कमी अवश्यम्भावी है ।

पशुओं के लिए बहु-पोषकीय पशु-आहार बट्टिका

विभिन्न पशु पोषकीय संबद्ध घटकों से बट्टिका बनाने के सफल प्रयास किये गये । प्रारम्भिक परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ कि भेड़, बकरी, गाय व भैंस इनको चाव से चाटते हैं । जिन भेड़ों को धामण के साथ-साथ यह बट्टिका दी गई, उनके भार में बढ़ोतरी दर्ज की गई । एल्बूमिन, हीमोग्लोबिन व यूरिया की मात्रा बट्टिका दी गई भेड़ों में केवल घास पर रखी गई भेड़ों से ज्यादा थी । बट्टिका दिये गये पशुओं के चारे व पानी के उपयोग में वृद्धि दर्ज की गई तथा कुछ में दुग्ध उत्पादन में 20% तक वृद्धि दर्ज की गई । यह परीक्षण इस प्रकार की बट्टिका के द्वारा मरुस्थल में पशुओं में पोषक तत्वों की कमी की पूर्ति कर इनके उत्पादन बढ़ाने की संभावनाओं को दर्शाता है ।

मरुस्थलीय बकरियों को बांटा खिलाकर उत्पादकता बढ़ाना

शुष्क क्षेत्र की मारवाड़ी नस्ल की बकरियों की उत्पादन क्षमता बढ़ाने हेतु उन्हें सामान्य चराई के पश्चात बांटा दिया गया । यह पाया गया कि 250 - 400 ग्राम प्रतिदिन खाने से बकरियों में अच्छी भार वृद्धि होती है ।

गैर पारम्परिक पशु आहार

पशु आहार में बांटे की बढ़ती हुई मांग की पूर्ति की समस्या को ध्यान में रखते हुए आहार को सस्ता रखने के लिए एवं प्रोटीन की आवश्यकताओं की पूर्ति के सन्दर्भ में तुम्बा की खली के स्वाद एवं पौष्टिता की जांच की गई । यह देखा गया कि बछड़ियों को 250 ग्राम तुम्बा की खली प्रति दिन हानि रहित दी जा सकती है । इस सरल उपाय से गाय के आहार खर्च में 25 - 30% की बचत की जा सकती है । यह पाया गया कि दुधारु राठी एवं थारपारकर नस्ल की गायों में बांटे की 25% पूर्ति तुम्बे की खल से की जा सकती है, जिससे आहार खर्च में 20% बचत की जा सकती है ।

गैर परम्परागत उर्जा स्रोतों का दोहन एंव कृषि यन्त्रों का विकास

संस्थान में गैर परम्परागत ऊर्जा स्रोतों के दोहन एंव खेती में काम आने वाले यन्त्रों और औजारों पर कार्य सत्तर के दशक में आरम्भ हुआ । इस दिशा में कुछ आधारभूत अध्ययन किये गये ताकि ऊर्जा स्रोतों की क्षमता का अनुमान किया जा सके, वहीं ऐसे अध्ययन भी किये गये, जिससे अधिक दक्षता के सौर उपकरण बनाये जा सकें जो कम कीमत के हों और अधिक उपयोगी भी ।

जोधपुर में सौर ऊर्जा का औसत माप करीब 6 किलो वाट घण्टा प्रति वर्ग मीटर प्रतिदिन है । प्रकृति प्रदत्त इस निशुल्क सौर ऊर्जा का उपयोग कर घरेलू, व्यावसायिक व कृषि सम्बन्धी सौर उपकरणों के विकास का प्रयत्न किया गया, जिस से मरु क्षेत्र में ऊर्जा की कमी की पूर्ति की जा सके । इसके अतिरिक्त पवन शक्ति व जैविक गैस का भी आकलन किया गया है । मरुक्षेत्र की आवश्कताओं को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त कृषि यन्त्रों का विकास किया गया । प्रमुख उपलब्धियों का विवरण प्रस्तुत है :

सौर चूल्हे

मरु क्षेत्रों में ईंधन की कमी को ध्यान में रखते हुऐ कई प्रकार के सौर चूल्हे निर्मित किये गये । प्रथम चरण में 5 विभिन्न प्रकार के सौर चूल्हों को बनाकर तुलना की गई । इनमें सौर भट्टी सबसे उपयुक्त पायी गई । परन्तु इस सौर भट्टी को हर आधे घण्टे में सूर्य की ओर घुमाना पड़ता है तथा इसका भार भी अधिक है । इस समस्या को ध्यान में रखते हुए निम्न प्रकार के सौर चूल्हों का विकास किया गया है :

अ) घरेलू उपयोग के लिए

- दो दर्पण वाला पेटीनुमा सौर चूल्हा जिसे तीन घण्टे तक सूर्य की ओर घुमाने की आवश्यकता नहीं पड़ती इसमें 4 से 5 सदस्यों के लिए भोजन बनाया जा सकता है ।
- टेढ़ी धरातल वाला सौर चूल्हा जिससे जाड़ों में भी भोजन जल्दी बन जाता है ।
- स्थायी सौर चूल्हा जिससे सूर्य की ओर घुमाये बगैर जाड़ों में भी दिन में दो बार भोजन बनाया जा सकता है ।

उपरोक्त सौर चूल्हों द्वारा दाल, चावल, सब्जी आदि उबाले जा सकते है । मूंगफली, शकरकन्द, आलू आदि को भूना भी जा सकता है । इनके उपयोग से अनुमानतः 40% ईंधन की बचत होती है ।

ब) सामूहिक सौर चूल्हा

जो छात्रावास, मैस, मन्दिर आदि स्थानों में सामूहिक भोजन जैसे अवसरों पर 70 -80 आदमियों के लिये भोजन बनाने के लिए उपयुक्त है ।

(स) पशु आहार सौर चूल्हा

जो मिट्टी, गोबर, बाजरा, गेंहूं का भूसा, कांच, लकड़ी व लोहे की चद्दर से बनाया जाता है । इसके द्वारा 10 किलो पशु आहार दिन के 3 बजे तैयार हो जाता है । यही समय पशु आहार का होता है ।

सौर जल तापक

संग्रहमय संचयन नुमा सौर जल तापक

पानी को गर्म करने के लिए एक कम मूल्य का सौर जल तापक बनाया गया है, जिसमें सौर ऊर्जा को शोषित करने और पानी को संचित करने का एक ही पात्र होता है । इस उष्मक यन्त्र से सर्दियों में 100 लीटर पानी का ताप 55° से 60° से. पहुंच जाता है । रात को ढ़ककर रखने से अगली सुबह भी 40° से 45° से. ताप का पानी प्राप्त किया जा सकता है ।

स्थानीय सामग्री से बने प्राकृतिक घुमावनुमा सौर जल तापक, चपटी तख्ती सग्रंहक और 100 लीटर से 750 लीटर क्षमता के प्राकृतिक घुमावनुमा सौर जल तापक का भी विकास किया गया है । ऐसे जल तापक संचयन होटल, होस्टल, अतिथि गृह हेतु उपयुक्त रहते हैं ।

सौर शुष्कक

खुले वातावरण में फल सब्जियों को सुखाने में आने वाली समस्याओं का निदान करने हेतु हवा तापक को श्रेणीमें जोड़कर 100 किलोग्राम क्षमता का सौर शुष्कक बनाया गया, जो सभी प्रकार के फल सब्जियों को सुखाने के लिये उपयुक्त है, परन्तु इसमें पंखा चलाने के लिये बिजली की आवश्यकता पड़ती है । इस बात को ध्यान में रखकर निम्न प्रकार के प्राकृतिक संवहन प्रकार के सौर शुष्कक बनाये गये

सौर केबिनेट शुष्कक

इस चिमनी सहित सौर शुष्कक (आधार क्षेत्रफल 1.68 मी.) के द्वारा 15 से 20 किलो फल, सब्जी, सौंफ, तम्बाकू पाउडर आदि को 5-6 दिन में सुखा सकते हैं, जबकि खुले वातावरण में सुखाने पर 20-25 दिन लग जाते हैं । इस यन्त्र की विशेषता यह है कि सूखने की प्रक्रिया में यन्त्र में लगी चिमनी द्वारा गर्म हवा को बाहर निकाल कर ताप पर नियन्त्रण किया जाता है ।

टेढ़ी धरातल का सौर शुष्कक

इस उन्नत सौर शुष्कक यन्त्र (आधार क्षेत्रफल 1 वर्ग मी.) को ऋतु अनुसार उपयुक्त झुकाव पर रखकर पूरे वर्ष अधिक सौर ऊर्जा का उपयोग कर सकते हैं । इस संयन्त्र में मिर्च, हरा धनिया,पालक, प्याज, लहसुन, नमकीन आँवला, मेगनीशियम कार्बोनेट आदि को सुखाने के सफल प्रयोग किये गये । इस प्रकार के एक से अधिक शुष्ककों को श्रेणी में जोड़कर 100 किग्रा. क्षमता

क़ा व्यावसायिक सौर शुष्कक भी बनाया गया है । इस प्रकार के सौर शुष्कक के प्रति वर्ग मीटर से करीब 300 किलोवाट घण्टा के तुल्य विद्युत ऊर्जा की बचत हो सकती है ।

घरेलू सौर शुष्कक

दैनिक कार्यो हेतु घरों में फल सब्जी सुखाने के लिये एक कम कीमत का सौर शुष्कक बनाया गया है, जिसकी क्षमता 2 किलो से 2.5 किलो है । यह शुष्कक सभी प्रकार के फल व सब्जी को सुखाने के लिये उपयुक्त है ।

सौर आसवन संयन्त्र

गांवों में ट्रेक्टर की बैटरी, स्कूल की प्रयोगशाला, विद्युत ग्रिड स्टेशन एंव ट्रेन में लगी बैटरियों के लिए आसुत जल की उपयोगिता को देखते हुए विभिन्न प्रकार के सौर आसवन यन्त्र बनाये गये । एक सीढ़ी नुमा सौर आसवन संयन्त्र बनाया गया, जो जाड़ो में साधारण सौर आसवन यन्त्र की अपेक्षा 2 से 3 गुणा अधिक आसुत जल उत्पादित करता है । इस संयन्त्र से 3 से 3.5 लीटर प्रति वर्ग मीटर आसुत जल का उत्पादन प्रतिदिन होता है । इस सौर संयन्त्र से प्राप्त आसुत जल की कीमत करीब 50 पैसे प्रति लीटर आती है, जबकि बाजार में यह करीब 3 रूपये प्रति लीटर में उपलब्ध है । अतः यह संयन्त्र धनोपार्जन का साधन भी हो सकता है । जहां खारा पानी उपलब्ध है, वहां इन सौर आसवन यन्त्रों का प्रयोग कर इसे पीने योग्य पानी में परिवर्तित किया जा सकता है ।

बहुउद्देशीय सौर यन्त्र

एक ही यन्त्र से विभिन्न प्रकार के कार्य करने के लिये बहुउद्देशीय सौर यन्त्रों का विकास किया गया है, जो साल भर किसी न किसी रूप में काम आ सकते हैं । इस श्रृंखला में एक संयन्त्र सौर चूल्हा मय शुष्कक है, जिसके द्वारा परिवार के 5 सदस्यों का खाना बना सकते हैं । साथ ही 30 किलो फल और सब्जी को सुखा सकते हैं । एक दूसरे प्रकार का बहुउद्देशीय यन्त्र सौर जल तापक मय शुष्कक है, जिससे 10 से 15 किलो फल सब्जियों को सुखाया जा सकता है । 80 लीटर पानी को सर्दियों में 55° - 60° से. ताप तक गर्म किया जा सकता है । इस संयन्त्र की विशेषता यह है कि शुष्कक की तरह प्रयोग करते हुए इस यन्त्र में फल या सब्जी सुखाने की प्रक्रिया गर्म हुए जल से रात्रि में भी जारी रखी जा सकती है । इस यन्त्र से पानी गर्म करने में 480 किलोवाट घंटा तुल्य ऊर्जा प्रति वर्ष बचा सकते हैं और 500 कि.ग्रा. फल सब्जियां भी सुखा सकते हैं। इसी श्रृंखला मे एक सौर चूल्हामय आसवन यन्त्र, सौर चूल्हामय जल तापक भी बनाये गये हैं । एक अन्य बहुउद्देशीय संयन्त्र सौर जल तापक मय आसवन यन्त्र मय शुष्कक का विकास किया गया है । इसके द्वारा पानी भी गर्म किया जा सकता है, आसुत जल भी मिल जाता है और फल सब्जी को भी सुखाया जा सकता है।

सौर मोमबत्ती मशीन

गांवों में किसानों, बेरोजगारों, महिलाओं, विकलांगों के लिये अतिरिक्त अर्थोपार्जन के लिये एक सौर मोमबत्ती यंत्र (क्षेत्रफल 0.5 व.मीटर) का विकास किया गया है । इसके द्वारा सौर ऊर्जा का उपयोग कर गर्मियों में औसतन 9-15 किलो ग्राम व सर्दियों में 5 किलो ग्राम मोम को पिघलाकर मोमबत्तियां बनायी जा सकती है । इस मशीन का उपयोग करने से मुख्य लाभ यह है कि पिघलते समय मोम का वाष्पीकरण नहीं होता और इस कार्य में व्यक्ति को पास खड़े रहकर देख भाल की जरुरत नहीं पड़ती है । राष्ट्रीय अनुसंधान विकास निगम ने इस यन्त्र का व्यवसायीकरण किया है ।

सौर कोशिका चलित उपकरण

छिड़काव तथा बुरकाव यंन्त्र

शुष्क खेती में पौधो को नाशीकीटों से बचाने के लिये कीटनाशक दवाओं के छिड़काव हेतु एक सौर छिड़काव यन्त्र व एक सौर बुरकाव यन्त्र बनाया गया है । इन दोनों उपकरणों मे सौर बैटरी के पैनल को सिर के ऊपर क्षैतिज अवस्था मे रखने का प्रावधान है, जिससे काम करने वाले के सिर पर छाया भी हो जाती है और सौर ऊर्जा बिजली में परिवर्तित हो जाती है । सोलर स्प्रेयर में उत्पन्न बिजली से एक विद्युत मोटर तेजी से चलाई जाती है, जो द्रव की बून्दों को फुहारों में बदल देती है । ये बून्दें पेड़ों की पत्तियों के नीचे व ऊपर पहुँच जाती हैं । इस संयन्त्र में उत्पन्न बिजली को बैटरी में भी संचित कर सकते हैं, जिससे इस को सुबह, देर शाम व बादल छाये रहने पर भी काम मे ले सकते हैं । खेतों में कीट नाशक पाउडर छिड़कने के लिये बनाये गये अनूठे सोलर डस्टर में सोलर सेल से उत्पन्न बिजली एक विशेष प्रकार के पंखे को तीव्र गति से चलाती है, जिससे पाउडर हवा के साथ स्वतः तेजी से बाहर निकल फसल पर फैलता रहता है ।

सौर पम्प से बूंद बूंद सिंचाई

मरु प्रदेश में फलोद्यान के विकास के लिये सौर पम्प से चलने वाले बून्द - बून्द सिंचाई की समन्वित पद्धति का विकास किया गया है । विभिन्न फलदार पौधों की जल की आवश्यकता, सौर पम्प की कार्य क्षमता, बदलती हुई सौर ऊर्जा से प्रभावित सौर पम्प के दबाव और विभिन्न प्रकार के ड्रिपर की कार्य क्षमता को ध्यान में रखकर इस सौर पद्धति का विकास किया गया है । इस पद्धति में सोलर सेल के पैनल के द्वारा सौर ऊर्जा को बिजली में बदल, उससे मोटर पम्प चलाकर ड्रिपर से सिंचाई की जाती है । करीब 100 पीक वॉट के सौर सेल पैनल वाली इस पद्धति के द्वारा 4 से 5 हैक्टेयर के क्षेत्रफल के उद्यान में बून्द-बून्द सिचांई संभव है ।

वैकल्पिक कुचालक पदार्थ और आधार भूत अध्ययन

सौर उपकरणों की कीमत कम करने के लिये, उनकी दक्षता और अधिक बढ़ाने के लिये तथा उनको ज्यादा प्रयोगात्मक बनाने के लिये वैकल्पिक कुचालक पदार्थों के उपयोग पर शोध किये

गये हैं । एक ओर ककंरीट से बनायी सतह से पानी गर्म करने के प्रयास किये गये, तो दूसरी ओर पारदर्शक कुचालक पदार्थ (टिम) के प्रयोग से सौर चूल्हे व सौर मोमबत्ती यंत्र की कार्य क्षमता को बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है । सौर आसवन यन्त्र में ऐसे पदार्थ व रंगों का इस्तेमाल किया गया है जिसमें जंग नहीं लगता है । सौर शुष्कक में बाजरे के सूखे डंठल को कुचालक के रूप में सफलता से प्रयुक्त किया गया । ऐसी चयनित सतहों का विकास किया गया है, जो सौर ऊर्जा को अधिक अवशोषित करती हैं, परन्तु जिनकी तापीय उत्सर्जना बहुत कम है । सौर कोशिक की निर्माण लागत को कम करने के लिये पतली सतह के सोलर सैल के विकास के प्रयत्न किये जा रहे हैं । इलेक्ट्रोफोरेसिस द्वारा कैडमियम सल्फाइड और केडमियम टेलूराइड की पतली सतह बनाने के सफल प्रयोग किये गये । इस इलाके में धूल की समस्या को देखते हुए धूल का दर्पण की परावर्तिता, सौर संग्रहक की खिड़कियो के विभिन्न पदार्थों की पारदर्शिता एवं सोलर सेल के पेनल पर पड़ने वाले प्रभाव का भी अध्ययन किया गया है । नमी और तापमान पर नियन्त्रण हेतु सोलर ग्रीन हाउस और मकानों को सस्ते ढ़ंग से ठंडा करने के लिये भी प्रयोग किये गये हैं । मरुक्षेत्र में गांव झंवर में विभिन्न कार्यों में प्रयोग में आने वाले ऊर्जा के अलग - अलग स्रोतों की खपत को भी आंका गया और यह पाया गया कि वहां की ऊर्जा की पूर्ति वैकल्पिक स्रोतों से की जा सकती है । कुछ गांवों में चुने सौर यन्त्रों को उनके सही प्रयोगात्मक मूल्यांकन के लिये लगाया गया है, ताकि उनमें वांछनीय सुधार किये जा सकें ।

पवन शक्ति

शुष्क क्षेत्रों में सौर ऊर्जा के साथ - साथ पवन ऊर्जा भी उपलब्ध है । पवन शक्ति की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए इस संस्थान ने शुष्क क्षेत्र के विभिन्न स्थानों, जोधपुर, जैसलमेर, बाड़मेंर, बीकानेर, फलोदी में वार्षिक वायु प्रवाह विश्लेषण किया है । इस विश्लेषण के आधार पर जोधपुर, जैसलमेर, बाड़मेर, व फलोदी के कुछ स्थानों को पवन शक्ति के दोहन के लिए उपयुक्त पाया है, जहां पर पवन चक्की से कुओं से पानी खींचा जा सकता है । साथ ही छोटे क्षमता वाले जनरेटरों से बिजली भी पैदा की जा सकती है । इस संस्थान में एक परदेदार पवन चक्की का निर्माण किया गया है, जिसके चक्र का व्यास 6.7 मी. है । ये आगे -पीछे चलने वाले पम्प को चलाकर 3.5 मी. गहराई से 1000 से 1200 ली. प्रति घण्टे की गति से पानी निकाल सकती है । यह पवन चक्की 8.5 कि.मी. प्रति घण्टे वायु गति के प्रवाह में सुरक्षित कार्य करती है । इसके साथ - साथ अपोलो 12 पी.यू. 500 पवन चक्की की क्षमता का मूल्यांकन कर इस क्षेत्र के लिए उपयोगी पाया गया है । प्रदेश में राजस्थान ऊर्जा विकास निगम के अर्न्तगत विभिन्न प्रकार की पवन चक्कियां लगाई गई हैं, जिनका उपयोग सार्वजनिक स्थानों पर पीने का पानी खींचने व सिंचाई के लिये किया जा रहा है । इन पवन चक्कियों की मरम्मत व रख-रखाव के लिए इस संस्थान के साथ मिलकर योजना बनाई जा रही है, जिससे भविष्य में इस शक्ति का दोहन कर उसका सुचारु रूप से शुष्क क्षेत्र के विकास हेतु उपयोग किया जा सके ।

चित्र 15. सौर आसवन इकाई

चित्र 16. सौर ऊर्जा चालित बुरकाव यंत्र

कृषि यन्त्रों का विकास

ट्रेक्टर चलित दो लाइनों वाला बुवाई यन्त्र

इस संस्थान में टेक्ट्रर चलित दो लाइनों वाले बुवाई यन्त्र का विकास किया गया है । इस यन्त्र की सहायता से परीक्षण खेतों में दो लाइनों में एक साथ विभिन्न प्रकार के बीजो की बुवाई की जा सकती है । बीजों को निश्चित गहराई पर एंव निश्चित दूरी पर नियंत्रित कर बोया जा सकता है । साथ ही बीजों को मिट्टी में हल्का सा दबाया भी जा सकता है, जिससे मिट्टी में उपलब्ध नमी बीजों के अंकुरण में सहायता करती है और ज्यादा से ज्यादा मात्रा में बीज अंकुरित होते हैं, जिससे पैदावार में बढ़ोतरी होती है । यह यन्त्र शुष्क क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की फसलों की परीक्षण बुवाई के लिए बहुत उपयोगी है ।

पशु चालित दो लाइनों वाला बुवाई यंत्र

दो लाइनों वाले पशु चालित बुवाई यंत्र का विकास किया गया है, जिसकी कीमत 1200 रु. है। इसकी सहायता से 45-60 से.मी. की दूरी पर बाजरा, मूंग, मोठ, ग्वार जैसी फसलों की बुवाई की जा सकती है । इस यन्त्र द्वारा एक बैल जोड़ी अथवा एक ऊँट की सहायता से बुवाई की जा सकती है।

खरपतवार नियंत्रक यन्त्र

मानव चलित खरपतवार नियंत्रक यंत्र का विकास किया गया है । इसकी सहायता से फसलों की दो लाइनों के बीच के खरपतवार को निकाला जा सकता है । इस यन्त्र को आगे पीछे करके एक आदमी 85-90 मानव घण्टे में एक हैक्टेयर जमीन के खरपतवार निकाल सकता है । यन्त्र की अनुमानित कीमत 800 रु. है ।

खेतों में मिट्टी की परत तोड़ने वाला यंत्र

इस यंत्र में लोहे की फ्रेम में एक दांतेदार बेलन के पीछे 24 से.मी. चौड़ी ब्लेड लगाई गई है । इस पूरे फ्रेम को लोहे के पाइप के हैण्डल से जोड़ा गया है जिससे इस यंत्र को एक आदमी आसानी से आगे पीछे करके खेतों में चला सके । इस की सहायता से 80 - 85 मानव घण्टे में एक हैक्टेयर खेत में मिट्टी की परत को तोड़ने के साथ - साथ खरपतवार पर भी नियंत्रण किया जा सकता है । यंत्र की अनुमानित कीमत रु. 900 है ।

बोरा पकड़ने वाला स्टैण्ड

बोरा पकड़ने के लिए लोहे का स्टेण्ड बनाया गया, जिसकी सहायता से दो आदमियों के बजाय केवल एक आदमी ही बोरे में अनाज भरने का कार्य सुविधापूर्वक कर सकता है । इसके फलस्वरूप एक आदमी के श्रम की बचत होती है । इस स्टेण्ड की अनुमानित कीमत रु. 500 है ।

हरा चारा भंडारण संयन्त्र

शुष्क क्षेत्र में सबसे अधिक दुधारु पशुओं का पालन किया जाता है । और दुधारु पशुओं की दूध देने की क्षमता उनको दिये जा रहे हरे चारे पर निर्भर करती है । अतः यहां हरे चारे (साईलेज) के भण्डारण का विशेष महत्व है, जिससे पूरे साल हरे चारे की उपलब्धता बनी रहे । इस संस्थान में हरे चारे के भण्डारण के लिए एक संयंत्र विकसित किया गया है । ज़मीन के अन्दर लोहे, मिट्टी, रेत व सीमेन्ट की सहायता से भंडारण संयत्र का निर्माण किया गया है, जिसकी भंडारण क्षमता 3 क्विंटल है । इसके साथ साथ 25 क्विंटल क्षमता वाले सूखे चारे के भंडार का भी निर्माण किया गया है ।

बेर ग्रेडिंग मशीन

शुष्क क्षेत्र में बेर एक महत्वपूर्ण फसल है । इसे ध्यान में रखते हुए संस्थान में बेर ग्रेडिंग मशीन का निर्माण किया गया । इसकी सहायता से विभिन्न आकारों के बेरों को तीन अलग - अलग मापों में विभाजित किया जा सकता है । इस मशीन में दो अलग - अलग नापों के छिद्र वाले छल्लों को फ्रेम पर ढलान पर देते हुए व माप के अनुसार लगाया गया, जिससे फल अपने वजन व माप के अनुसार ही नीचे की ओर आ सकें । मशीन के पूरे छल्लों के समूहों को एक व्यक्ति हेन्डल से संचालित कर सकता है । इस की सहायता से प्रति घण्टा लगभग 100 कि.ग्रा. बेरों की ग्रेडिंग की जा सकती है । इस मशीन की अनुमानित कीमत 29,000 रू. है ।

बून्द - बून्द सिंचाई संयंत्र

पानी के अधिक क्षमता से उपयोग के लिए कम दबाव से चलने वाले बून्द बून्द सिंचाई संयत्र का विकास किया गया है । इस संयंत्र को जमीन की सतह से 1 मी. की ऊँचाई पर स्थित पानी की टंकी से जोड़ने पर यह गुरुत्वाकर्षण शक्ति से स्वचालित रहता है और बिजली की आवश्यकता नहीं होती है । इस संयत्र के उपयोग से करीब 40% उत्पादन बढ़ोतरी के साथ - साथ करीब 25% पानी भी बचाया जा सकता है । इसे चलाने के लिए बाह्य शक्ति की ज़रुरत नहीं पड़ती है ।

तकनीकी हस्तान्तरण

केन्द्रीय रुक्ष क्षेत्र अनुसंधान संस्थान की आरंभिक कालीन कार्य पद्धति में शोधकार्य की मुख्य भूमिका होने से यहां के वैज्ञानिकों ने विभिन्न पहलुओं पर प्रंशसनीय शोधकार्य किया तथा अनेकानेक नवीनतम तकनीकियों को किसानों, रेगिस्तान वासियों की आमदनी बढ़ाने हेतु अनुसंशित भी किया । वर्ष 1972 में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् द्वारा विशेषज्ञों की समिति को संस्थान के कार्यो के समीक्षात्मक आकलन हेतु भेजा गया, जिसकी अनुशंसा पर वर्ष 1973 में परिषद् ने प्रसार एवं प्रशिक्षण विभाग की स्थापना की स्वीकृति दे दी । इस नये विभाग का मुख्य कार्य संस्थान द्वारा शोधित किसानोपयोगी तकनीकों को किसानों के बीच ले जाना था । वर्ष 1974 के नवम्बर माह से इस विभाग ने अपना कार्य सम्पादन प्रारम्भ किया । विभाग के मुख्य उत्तरदायित्व हैं:

- ग्रामीणों को खेती एवं पशुपालन सम्बन्धी नयी तकनीकियों की आर्थिक उपयोगिता की जानकारी देना
- किसानों के मानस परिवर्तन हेतु प्रसार शिक्षा की नवीनतम विधियों का उपयोग करना तथा इनकी सफलता का सत्यापन करना
- किसानों एवं कृषक महिलाओं, प्रसार कार्यकर्ताओं एवं प्रसार अधिकारियों को लघु अवधि का प्रशिक्षण देना
- सरल बोलचाल की भाषा में किसानोपयोगी पत्र - पत्रिकाओं का प्रकाशन करना
- प्रसार एवं विकास कार्यों में लगे सरकारी, अर्ध-सरकारी एवं स्वयंसेवी संस्थाओं से समन्यव स्थापित करना

इन्हीं मुख्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु यह विभाग विभिन्न संकायों के तत्वावधान में संस्थान के वैज्ञानिकों की सक्रिय भागीदारी से कार्यरत है । वर्ष 1975 से ही प्रयोगात्मक शोध परियोजना, प्रयोगशाला से खेतों तक कार्यक्रम एवं कृषि विज्ञान केन्द्र के तहत एक सौ से अधिक ग्रामीण क्षेत्रों में प्रसार कार्यक्रम चलाये जा चुके हैं। सम्प्रति पश्चिमी राजस्थान के सात ज़िलों के 26 ग्रामीण क्षेत्रों में काजरी के प्रसार कार्यक्रम चल रहे है । वर्ष 1983 के अप्रेल माह में कृषि विज्ञान केन्द्र की स्थापना से किसानों के बीच चल रहे तकनीकी हस्तान्तरण कार्यक्रम में और तीव्रता आयी ।

अन्य संस्थानों एवं विभागों से गठजोड़

काजरी के शोधित कार्यों की उपयोगिता समिति

इसके अध्यक्ष कृषि उत्पादन आयुक्त, राजस्थान सरकार एवं संचालक अतिरिक्त निदेशक भू संरक्षण विभाग, जोधपुर हैं । राज्यस्तरीय कृषि एवं पशु पालन विभाग के अधिकारी एवं काजरी के सभी विभागाध्यक्ष इस समिति के सदस्य हैं । वर्ष में एक या दो बार इसकी बैठक आवश्यक है ।

जिला समन्वय समिति

इसके अध्यक्ष जिलाधीश होते हैं तथा सभी विभागों के जिला स्तरीय अधिकारी इसके सदस्य । इस समिति का संयोजक अध्यक्ष, प्रसार एवं प्रशिक्षण विभाग होता है । प्रसार कार्यक्रमों की प्रगति की समीक्षा वर्ष में एक या दो बार इस समिति के द्वारा की जाती है ।

परामर्शदायी समिति

संस्थान के निदेशक की अध्यक्षता में प्रसार परामर्शदायी समिति के राजस्थान, हरियाणा एवं गुजरात के निदेशक, कृषि औद्यानिकी एवं प्रसार शिक्षा, के अलावा स्वंय सेवी संस्थाओं के संचालक, प्रगतिशील किसान एवं प्रसार शिक्षाविद् सदस्य होते हैं । वर्ष में दो बार इसकी बैठक होती है तथा प्रसार कार्यक्रम की समीक्षा एवं सलाह दी जाती है ।

वर्तमान में काजरी द्वारा तकनीकी हस्तान्तरण के अन्तर्गत सात कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं

- संस्थान -ग्राम संयुक्त कार्यक्रम - जोधपुर (भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रायोजित)
- मरु क्षेत्रीय कृषि के सतत् विकास एवं रेगिस्तान नियन्त्रीकरण हेतु कार्यक्रम
- खेतों पर किसानों की भागीदारी से अनुसंधान कार्य - जोधपुर, बाड़मेर, जैसलमेर, बीकानेर, नागौर व पाली जिलों में (राजस्थान सरकार द्वारा प्रायोजित)
- परती भूमि प्रबन्धन परियोजना - बाड़मेर (राष्ट्रीय परती भूमि विकास बोर्ड द्वारा प्रायोजित)
- प्रयोगात्मक अनुसंधान परियोजना- जोधपुर (भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रायोजित)
- औद्योगिक दूषित कुओं के जल का उपयोग - जोधपुर (राजस्थान सरकार द्वारा प्रायोजित)
- उद्यानिकी फसलों हेतु टांकों में वर्षा जल संग्रहण - जोधपुर (राष्ट्रीय कृषि विकास बैंक द्वारा प्रायोजित)

यह विभाग प्रतिवर्ष 10 - 12 प्रशिक्षण शिविर विभिन्न विभागों के वित्तीय सहयोग से प्रसार कार्य में लगे कृषि पदाधिकारियों के लिए आयोजित करता है । इस तरह प्रति वर्ष 200 - 250 पदाधिकारी संस्थान द्वारा शोधित नवीनतम तकनीकी ज्ञान प्राप्त करते हैं । इसी तरह लगभग सौ प्रशिक्षण शिविर कृषि विज्ञान केन्द्र द्वारा प्रतिवर्ष किसानों एवं कृषक महिलाओं के लिए आयोजित किए जाते हैं, जिसमें 3000 व्यक्ति प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं । गृह विज्ञान संकाय ग्रामीण महिलाओं को प्रशिक्षण के साथ - साथ प्रत्यक्षण कार्य में भी सम्मिलित करता है, ताकि महिलाएँ बराबर की भागीदारी सुचारु रूप से निभा सकें । किसानों को पौध नर्सरी तैयार करने का प्रशिक्षण देकर ज्ञान संवर्धन के साथ - साथ मानसं परिवर्तन किया जाता है ।

विभिन्न संचार माध्यमों द्वारा काजरी द्वारा शोधित तकनीकियों का प्रचार - प्रसार भी यह विभाग करता आ रहा है, जिसमें दूरदर्शन, आकाशवाणी एवं दैनिक समाचार पत्र मुख्य हैं । प्रतिवर्ष दो किसान मेलों, 10 - 12 क्षेत्र दिवसों एवं 3 - 4 विशेष दिवसों का आयोजन किया जाता है । विशेष दिवस में कृषक महिला दिवस, विश्व महिला दिवस, विज्ञान दिवस आदि प्रमुख हैं ।

पशुमेला एवं विभिन्न ग्रामीण आयोजनों में कृषि प्रदर्शनी का आयोजन भी किया जाता है, ताकि ज्यादा से ज्यादा ग्रामीण लाभ उठा सकें । समाचार के ज़रिये भी कृषि सम्बन्धी सलाह लोगों को दी जाती है । इस तरह यह विभाग अपने वैज्ञानिकों के जीवन्त सहयोग से किसानों की भरपूर सेवा का कार्य निष्पादन करता आ रहा है । आज शोधकार्य में लगे वैज्ञानिकों की रुचि भी किसानों की सेवा में ज्यादा दिखाई दे रही हैं । यह परिवर्तन प्रसार कार्य की सफलता का द्योतक है ।

अग्रावलोकन

किसी भी क्षेत्र का विकास एक सतत् प्रकिया होती है । वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तीव्र वैज्ञानिक प्रगतिं के कारण विकास की गति पूर्व की अपेक्षा अति त्वरित रही । उपभोगवादी विचारधारा से प्रभावित विकास क्रम में अन्य मूल्यों की लगातार अवहेलना की गयी । इसका प्रभाव पर्यावरण तथा सामाजिक मूल्यों पर भी पड़ा । शिथिल होते सामाजिक बंधन तथा प्रकृति प्रतिकूल क्रिया कलापों ने मानव निर्मित मरुस्थल की राह प्रशस्त की । किन्तु मरुक्षेत्रों को विषमताओं के साथ ही कुछ प्राकृतिक उपहार भी प्राप्त हैं, जिनका समुचित उपयोग कर विषम परिस्थितियों को अनुकूल बनाया जा सकता है ।

पारंपरिक संसाधनों के वैज्ञानिक दोहन, नये वैकल्पिक संसाधनों की खोज तथा विकास, स्थानीय ज्ञान समाविष्टित तकनीकों के विकास, पर्यावरण संरक्षण के प्रति चेतना वृद्धि तथा आर्थिक संसाधनों के सृजन के द्वारा ही भविष्य में प्रगति की राह प्रशस्त की जा सकती है । मरुक्षेत्र के संबंध में संस्थान द्वारा किए अनुसंधान कार्यों की प्रगति के बारे में पिछले कुछ अध्यायों में विस्तृत विवरण दिया जा चुका है । तथ्यों के आधार पर भविष्य की संभावनाओं तथा परियोजनाओं पर विवेचना करना अब समीचीन होगा ।

सदियों पूर्व की परंपराओं, यथा ओरण क्षेत्र में वृक्ष काटने पर प्रतिबंध तथा अन्य जनोपयोगी मान्यताओं को पुनर्जीवित कर उनका आधार विस्तृत करने से पर्यावरण संरक्षण के कार्य को संबल मिलेगा । पारंपरिक कृषि विधियां जैसे खडीन, टांका, तालाब अथवा सेवज खेती में नवीन तकनीकों का समावेश कर अधिक उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है । इन प्राकृतिक जल संग्रह केंद्रों के जल ग्रहण क्षेत्र को विस्तृत कर उनकी उपादेयता में वृद्धि प्राप्त की जा सकती है ।

निरंतर सीमित होते कृषि क्षेत्रफल में स्थायी उत्पादकता हेतु कृषि, वानिकी, उद्यानिकी तथा पशुपालन- इन सभी के समन्वय युक्त ऐसी एकीकृत पद्धति का विकास किया जाना प्रस्तावित है, जिससे सीमित भूभाग से ही विभिन्न उत्पाद एक ही समय अथवा क्रम से प्राप्त किये जा सकें । शुष्क परिस्थितियों में अधिक उपज देने वाली किस्मों पर अनुसंधान कार्य आगे बढ़ाने की परियोजनाएं प्रस्तावित हैं ।

मरुक्षेत्र में पशुपालन द्वारा अधिक अर्थ उपार्जन हो सकना निर्विवाद रूप से मान्य है । पश्चिमी राजस्थान का पशुधन सीमित जल तथा स्थानीय वनस्पति पर निर्वाह कर सर्वथा अतुलनीय उत्पादन प्रदान करने में सक्षम हैं । परन्तु रेतीले प्रदेशों में जलाभाव की स्थिति के रहते पशुपालक बहुधा अपने पशुओं को अन्यत्र ले जाने के लिये बाध्य होते हैं । इंदिरा गांधी नहर परियोजना के प्रसार तथा अन्य स्थानों पर भूमिगत स्रोतों द्वारा मरुप्रदेश के विशाल क्षेत्र में निश्चित स्थानों पर पशुओं के लिए पेयजल व्यवस्था की जा सकती है । वर्तमान में सद्य प्राप्त जल का उपयोग मात्र कृषि के लिए किया जा रहा है । इस जलराशि के अल्पांश का पशुपालन हेतु उपयोग कर अधिक उत्पादकता प्राप्त की जा सकती है । पारंपरिक रूप से कृषि तथा पशुपालन कार्य नितांत एकाकी

रूप से प्रतिपादित किए जाते रहे हैं । इनका समन्वय करना समय की आवश्यकता है । इस दिशा में प्रयास सार्थक परिणाम दे सकते हैं ।

भूमि की पुनःउर्वरकता प्राप्ति में मरुक्षेत्र में प्रचुरता से उपलब्ध जिप्सम का प्रयोग वर्तमान में अति सीमित स्तर पर हो रहा है । वहद् स्तरीय कार्यक्रम द्वारा खडिया मिट्टी के उपयोग से क्षारीय जल द्वारा सिंचित भूमि में उत्पादकता वृद्धि प्राप्त की जा सकती है ।

थार मरुस्थल दुर्लभ एवं बहु उपयोगी वनस्पतियों का पोषक रहा है । यहां की कतिपय प्रजातियों के बारे में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध है, परन्तु अधिसंख्य पादप ऐसे हैं, जिनके गुणावगुणों का अभी अध्ययन होना शेष है । औषधीय महत्व की वनस्पति के बारे में शीघ्र ही अनुसंधान कार्य प्रस्तावित हैं । इनसे क्षेत्र के वासियों को अतिरिक्त आय की प्राप्ति हो सकेगी । यहां की पारंपरिक वनस्पति में बहुउपयोगी आनुवांशिक गुणों का समावेश है । इन स्रोतों को वांछित गुणों युक्त वनस्पति के विकास हेतु उपयोग में लिया जा सकता है । साथ ही पारंपरिक फसलों से हटकर अथवा उनके अतिरिक्त अन्य उपयोगी फसलों को अपनाना संभवतः आर्थिक अवलंबन प्राप्ति में सहायक होगा ।

मरुक्षेत्रों के लिए उपयुक्त शीघ्र वृद्धि वाले वृक्षों की स्थानीय तथा विदेशी किस्मों का अध्ययन कर त्वरित वनीकरण का लक्ष्य हासिल किया जा सकता है । फसलों के साथ कृषि वानिकी पद्धति के उपयुक्त वृक्षों की प्रजातियों के बारे में अध्ययन की भी आवश्यकता है, जिसके लिए संस्थान में प्रयोग किये जाने प्रस्तावित हैं । विभिन्न वृक्ष प्रजातियों के स्थानीय तथा नई फसलों के सह-शास्य से उत्पन्न संभावित प्रभावों के अध्ययन हेतु विस्तृत परीक्षण श्रृखलाओं को आरंभ करने की संस्थान की भावी योजना है । कृत्रिम तथा प्राकृतिक साधनों के उपयुक्त संयोजन द्वारा पौध संरक्षण की प्रभावी विधियों का विकास संस्थान की प्राथमिकता सूची में है । मरु उद्यानिकी के अन्तर्गत अब तक अपेक्षाकृत कम परीक्षित फल वृक्षों पर विस्तृत अध्ययन आरंभ किए जायेंगे । फसलोपरांत तकनीकी के उपयोग से फलों की प्रचुरता की स्थिति में उनके परिरक्षण द्वारा विभिन्न खाद्य अथवा पेय पदार्थ बनाने की तकनीकी विकसित की जायेगी ।

प्राकृतिक संसाधन सर्वेक्षण संस्थान की प्रमुख गतिविधियों में शामिल है । पूर्व में किए सर्वेक्षण कार्य के आधार पर भविष्य में नवीनतम तकनीकों द्वारा इस कार्यक्रम को वहद् स्तर पर प्रतिपादित किया जायेगा ।

भविष्य की किसी भी योजना की सार्थकता उसके कृषक समुदाय के हितों को केन्द्र में रखकर बनाये जाने में निहित है । इसी पृष्ठभूमि में संस्थान द्वारा शोध हेतु निम्न लिखित कार्यक्रम प्रस्तावित हैं, जिनका आवश्यकतानुसार जन हितार्थ संशोधन किया जा सकेगा :

- शोध केन्द्रों तथा कृषकों के खेतों पर ऐसी समेकित कृषि पद्धति के विकास हेतु अध्ययन करना, जिसमें फसल उत्पादन, फल-सब्जी उत्पादन, वृक्षारोपण, पशु उपयोगी घास उत्पादन

तथा पशुपालन जैसे बहुआयामी कृषि कार्यों का समावेश हो. इससे अधिकतर सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति एक ही भू क्षेत्र अथवा ग्रामीण इकाई स्तर पर हो सकेगी

- समेकित जलस्रोत व्यवस्थापन, जल ग्रहण क्षेत्र विकास तथा ऊसर भूमि का पुनः उर्वरीकरण
- स्थानीय फसलों, वृक्ष तथा चारादि वनस्पतियों का जैव तकनीकी तथा अन्य विधियों द्वारा समग्र विकास
- जैव विविधता का सर्वांगीण अध्ययन
- शुष्क परिस्थिकी में अधिक उपज वाली किस्में विकसित करने के सन्दर्भ में कृषि तकनीकी का विकास
- फसलोपरांत तकनीकी का विकास तथा खाद्य प्रसंस्करण द्वारा मूल्य संवर्द्धन
- एकीकृत नाशीकीट एवं व्याधि प्रबंधन
- पवन तथा सौर ऊर्जा के बेहतर दोहन हेतु विधियों का विकास
- मरुस्थलीकण प्रक्रियाओं का सम्पूर्ण अध्ययन तथा प्रबंधन विधियों का विकास
- प्रशिक्षण तथा तकनीक हस्तांतरण
- कृषि कार्यों में महिलाओं की भूमिका के महत्वानुसार उन्हें अधिक अधिकार दिलाने के प्रयास

उपरोक्त शोध कार्यों के अतिरिक्त कृषक समुदाय तथा अन्य अन्वेषणोन्मुख व्यक्तियों तथा संस्थाओं के हितार्थ संस्थान द्वारा निम्न नवीन केन्द्रों की स्थापना भी प्रस्तावित है :

- **राष्ट्रीय मरुक्षेत्र तकनीकी केन्द्र :** जिसके द्वारा विभिन्न विभागों में कार्यरत अधिकारियों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था की जायेगी. प्रशिक्षित अधिकारियों से गठित नाभिकीय समूह विभिन्न विकास योजनाओं के प्रतिपादन का दायित्व संभालेंगे ।
- **प्रशिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र :** केन्द्र में प्रशिक्षित व्यक्ति स्वयं आगे इसी प्रकार का प्रशिक्षण प्रदान करेंगे, जिसमें मरुस्थल संबंधी जानकारियों का समावेश होगा ।
- **कृषक सेवा केन्द्र :** किसानों की तकनीकी समस्याओं का एक ही स्थान पर निवारण सुझाने हेतु इस केन्द्र की स्थापना प्रस्तावित है ।

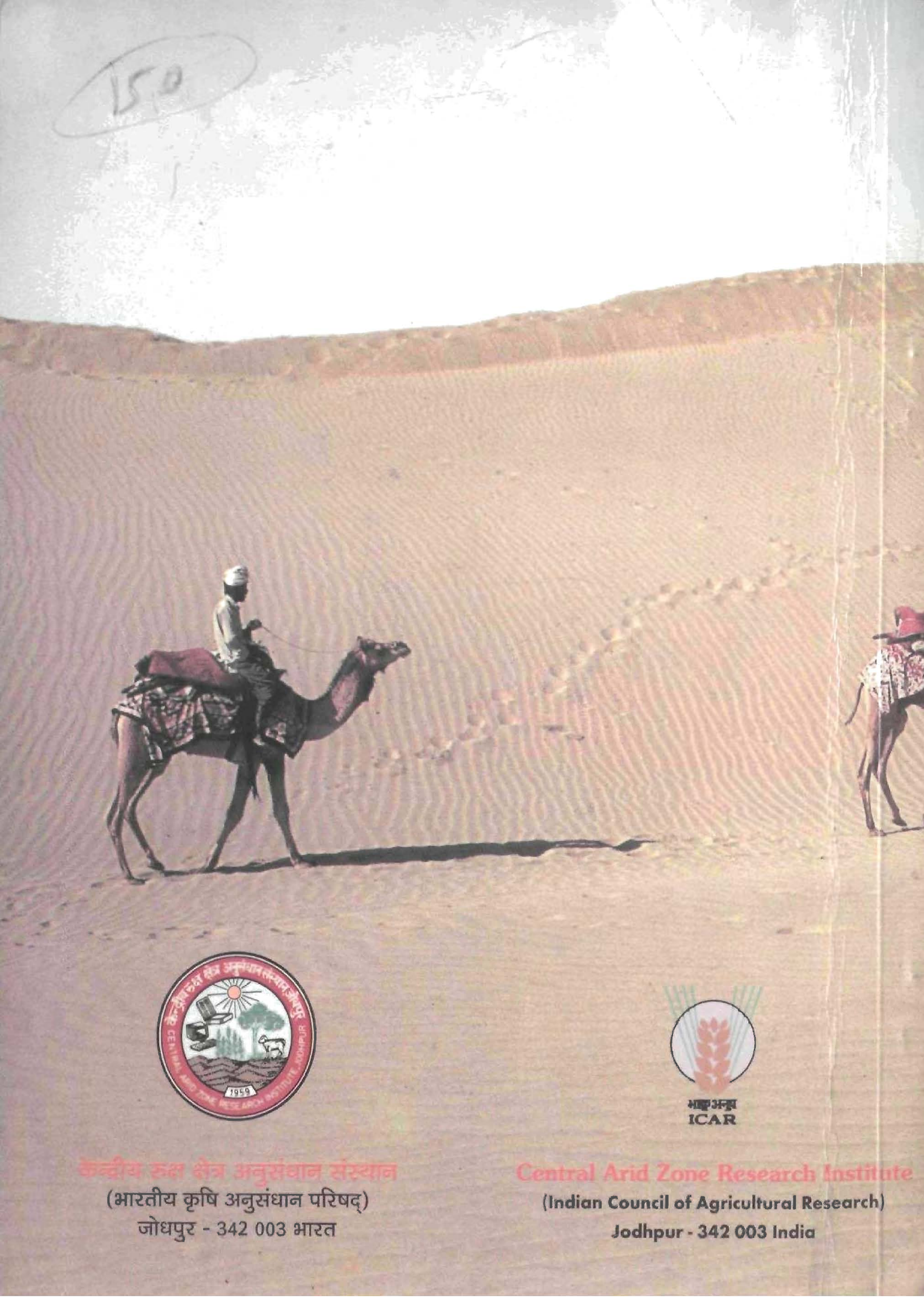

केन्द्रीय रुक्ष क्षेत्र अनुसंधान संस्थान
(भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्)
जोधपुर - 342 003 भारत

Central Arid Zone Research Institute
(Indian Council of Agricultural Research)
Jodhpur - 342 003 India